गुरबख्श सिंह सिब्बिया और अन्य

बनाम

पंजाब राज्य

(Gurbaksh Singh Sibbia and Others

v.

State of Punjab)

तथा

सर्बजीत सिंह और एक अन्य

बनाम

पंजाब राज्य

(Sarabjit Singh and Another

v.

State of Punjab)

(9 अप्रैल, 1980)

(मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़, न्यायाधिपति पी० एन० भगवती, एन० एल० ऊंटवालिया, आर० एस० पाठक और ओ० चिन्नप्पा रेड्डी)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2)—धारा 437 और 438 [सपठित संविधान का अनुच्छेद 21]—जमानत—अग्रिम जमानत—किन्हीं व्यक्तियों पर गम्भीर आरोपों का लगाया जाना—इस आशंका के आधार पर कि उन्हें किसी भी समय गिरफ्तार किया जा सकता है, अग्रिम जमानत के लिए आवेदन किया जाना—अग्रिम जमानत अनुदत्त करते समय न्यायालय को यह अधिकार होता है कि वह अग्रिम जमानत की ईप्सा करने वाले व्यक्ति पर कतिपय शर्तें अधिरोपित करे।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2)—धारा 438—अग्रिम जमानत—अनुदत्त करने की शर्तें—जो व्यक्ति अग्रिम जमानत लेने के लिए आवेदन प्रस्तुत करता है, उसे यह अवश्य ही दर्शित करना पड़ेगा कि उसके पास यह "विश्वास करने का कारण" है कि

1980(4) eILR(PAT) SC 103

उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है— उसका ऐसा विश्वास, भय पर आधारित न होकर, युक्तियुक्त आधार पर आधारित होना चाहिए।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2)—धारा 437 और 438—अग्रिम जमानत—मामूली जमानत और अग्रिम जमानत के बीच का अन्तर—मामूली जमानत और अग्रिम जमानत के बीच अन्तर यह है कि पूर्वकथित गिरफ्तारी के बाद अनुदत्त की जाती है, जबकि पश्चातकथित गिरफ्तारी के पूर्वानुमान के आधार पर अनुदत्त की जाती है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2)—धारा 438—अग्रिम जमानत—'सर्वग्राही आवेश' (ब्लैंकेट आर्डर)—जब तक कि यह विश्वास करने का युक्तियुक्त और ठोस कारण दर्शित न कर दिया जाए कि उसे किसी भी समय गिरफ्तार किया जा सकता है, तब तक सर्वग्राही आवेश (ब्लैंकेट आर्डर) साधारणतया नहीं दिया जाना चाहिए।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2)—धारा 438—अग्रिम जमानत—यद्यपि लोक अभियोजक को सूचना दिए बिना भी अग्रिम जमानत के आवेदन की बाबत अन्तरिम आवेश दिया जा सकता है, तथापि उसके तुरन्त बाद लोक अभियोजक अथवा सरकारी अधिवक्ता को तत्सम्बन्धी सूचना अवश्य ही दी जानी चाहिए और प्रस्तुत दलीलों की रोशनी में मामले की पुनः परीक्षा की जानी चाहिए।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2)—धारा 438—अग्रिम जमानत—यदि न्यायालय का समाधान हो गया हो कि अग्रिम जमानत की अवधि सीमित करना युक्तियुक्त है, तो उसे ऐसा करने का अधिकार है।

अपीलार्थी श्री गुरबख्श सिंह सिब्बिया पंजाब सरकार के कांग्रेसी मंत्रालय में सिंचाई और बिजली मंत्री था। उसके और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध राजनीतिक भ्रष्टाचार के गम्भीर अभिकथन किए गए थे, जिस पर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय में यह प्रार्थना करते हुए धारा 438 के अधीन आवेदन फाइल किए गए थे कि अपीलार्थियों को, पूर्वोक्त आरोपों के आधार पर उनकी गिरफ्तारी की स्थिति में जमानत पर छोड़ दिए जाने

1980(4) eILR(PAT) SC 103

का निदेश दिया जाए। इस मामले के महत्व को समझते हुए विद्वान एकल न्यायाधीश ने वह आवेदन पूर्णन्यायपीठ को निर्देशित कर दिया जिसने अपने तारीख 13 सितम्बर, 1977 वाले निर्णय द्वारा उन्हें इन आधारों पर खारिज कर दिया—(1) दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 के अधीन जो शक्ति है, वह असाधारण स्वरूप की है और उसका प्रयोग केवल आपवादिक मामलों में बहुत ही कम किया जाना चाहिए। (2) न तो धारा 438 और न ही संहिता का कोई अन्य उपबन्ध ऐसे अपराधों के लिए जो कि अभी न किए गए हों या ऐसे अभियोगों के सम्बन्ध में जो कि अभी तक न लगाए गए हों, सर्वग्राही अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए प्राधिकृत करता है। (3) उक्त शक्ति अनियंत्रित या इच्छित दिशा में मोड़ने वाली नहीं है, किन्तु पूर्ववर्ती धारा 437 में अधिरोपित सभी परिसीमाएं उसमें विवक्षित हैं और उनकी बाबत यह समझा जाना चाहिए कि वे धारा 438 पर अधिरोपित होती हैं। (4) धारा 437 में उल्लिखित परिसीमाओं के अलावा पिटीशनरों को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति के प्रयोग के लिए विशेष मामला बनाना चाहिए। (5) जहां कि धारा 167(2) के अधीन किसी अपराधी के पुलिस अभिरक्षा में रिमाण्ड के लिए किसी अन्वेषण करने वाले अधिकरण द्वारा वैध मामला बनाया जा सकता हो या ऐसी इत्तिला से जो कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 के अधीन अपराधी से प्राप्त होना सम्भाव्य हो, अभिशंसी सामग्री प्राप्त करने का युक्तियुक्त दावा पेश किया जा सकता हो, वहां धारा 438 के अधीन शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। (6) धारा 438 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग उन अपराधों के सम्बन्ध में जो कि मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय हों, तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक कि उस प्रक्रम में न्यायालय का यह समाधान न हो गया हो कि ऐसा आरोप मिथ्या या निराधार प्रतीत होता है। (7) यह जनता और राज्य के व्यापक हित में है कि आर्थिक अपराधों जैसे गम्भीर मामलों में जिनमें कार्यपालिका और राजनीतिक शक्ति के उच्च स्तर पर अत्यधिक भ्रष्टाचार अन्तर्ग्रस्त हो, संहिता की धारा 438 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। (8) पिटीशन में असद्भाव सम्बन्धी साधारण अभिकथन मात्र अपर्याप्त होते हैं। न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर उसका यह समाधान अवश्य ही हो जाना चाहिए कि असद्भाव से सम्बन्धित अभिकथन सारवान हैं और अभियोग मिथ्या तथा निराधार प्रतीत होता है। इसके अलावा पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष इस बात पर जोर दिया गया कि अपीलार्थी सम्पन्न और अच्छी स्थिति वाले लोग हैं जिनका फरार होना सम्भाव्य नहीं है और वे विचारण में उपस्थित

1980(4) eILR(PAT) SC 103

होने के लिए स्वेच्छा से तैयार होंगे। यह दलील इस मत के साथ अस्वीकृत कर दी गई कि उनकी हैसियत के कारण अपीलार्थियों के साथ विभेदक व्यवहार करना विधि के समक्ष समता की संकल्पना के अस्वीकरण की कोटि में आएगा और यह कि यह दलील नहीं दी जा सकती कि हैसियत वाला प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिस पर ऐसा गम्भीर अपराध करने का जो कि आजीवन कारावास से दण्डनीय है, ऐसा आरोप जिसके अन्तर्गत धारा 409 के अधीन आरोप शामिल है, लगाने का आशय था, अग्रिम जमानत के लिए न्यायालय का दरवाजा खटखटाने का हकदार था। पूर्ण न्यायपीठ के मतानुसार उच्च हैसियत का रखना अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए न केवल असंगत बात है, बल्कि यदि कोई हो तो, वह बिगाड़ने वाली परिस्थिति है। उसी निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई है। अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित—यद्यपि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 438 की उपधारा (1) में यह कहा गया है कि यदि "वह न्यायालय ठीक समझे, तो वह जमानत के लिए आवश्यक निदेश दे सकता है", तथापि उपधारा (2) न्यायालय को निदेश में ऐसी शर्तें शामिल करने की शक्ति देती है जैसी कि वह किसी विशिष्ट मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ठीक समझे, जिनके अन्तर्गत उस धारा के खण्ड (i) से लेकर (iv) तक में उल्लिखित शर्तें भी शामिल हैं। अतः संविवाद इस सम्बन्ध में नहीं है कि क्या न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करते समय शर्तें अधिरोपित करने की शक्ति है। वह स्पष्ट रूप से और अभिव्यक्त रूप से ऐसी शक्ति देती है। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या अर्थान्वयन की प्रक्रिया द्वारा न्यायिक विवेकाधिकार के आयाम को जो कि उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को ऐसी शर्तें अधिरोपित करने के लिए दिया गया है, जैसी कि वह अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के समय ठीक समझे, कानून में दी गई ऐसी शर्तें जो उसमें मौजूद न हों, मौजूद होने सम्बन्धी अर्थान्वयन करके सीमित किया जाना चाहिए, जैसे कि वे जिन्हें उच्च न्यायालय ने निश्चित की हैं या जिनकी बाबत विद्यमान अपर सालिसिटर जनरल ने विवाद उठाया है। इसका उत्तर, स्पष्ट रूप से और ज़ोर देकर नकारात्मक है। उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को जिसको अग्रिम जमानत से समन्वित आवेदन किया जाता है जमानत अनुदत्त करने के लिए अपने न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग में स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए, यदि वे मामले के विशिष्ट तथ्यों के आधार पर और परिस्थिति में तथा ऐसी शर्तों पर जैसी कि उस मामले में उचित हो, ऐसा करना ठीक समझे। उसी प्रकार से यदि उस मामले की परिस्थितियों में ऐसा करना न्यायोचित हो, तो उन्हें धारा 437 में

उल्लिखित बातों के समरूप बातों के आधार पर या उनके आधार पर जो उस संहिता की धारा 439 के अधीन साधारण रूप से सुसंगत मानी जाती हैं, जमानत देने से इनकार करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए। (पैरा 13)

उन विषयों के सम्बन्ध में जो कि विवेकाधिकार पर निर्भर होते हैं, साधारणीकरण से तथा व्यापक रूप से लागू करने के लिए आवश्यक फार्मूले की तब खोज करने की कोशिश से जबकि एक मामले से दूसरे मामले के तथ्यों का भिन्न होना निश्चित है, विवेकाधिकार प्रदत्त करने के प्रयोजन में बाधा उत्पन्न होती है। तथ्यों के आधार पर दो मामले समान नहीं होते और इसी कारण से यदि वैवेकिक शक्ति के प्रदत्त करने को अर्थपूर्ण होना है तो न्यायालयों को ऐसे संयोजन में कुछ स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। अग्रिम जमानत अनुदत्त करने में सेशन न्यायालय और उच्च न्यायालय को विस्तृत विवेकाधिकार देने में कोई भी जोखिम अन्तर्वलित नहीं है, क्योंकि प्रथमतः वे ऐसे उच्चतर न्यायालय हैं जिनमें अनुभवी व्यक्ति काम करते हैं, द्वितीयतः उनके आदेश अन्तिम नहीं होते किन्तु उनकी अपीली या पुनरीक्षणात्मक संवीक्षा की जा सकती है और इन सबके अलावा इसलिए भी क्योंकि न्यायालयों द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायिक रूप से, न कि खब्त, सनक या अटकल के आधार किया जाता है। दूसरी ओर, ऐसे मामलों के प्रवर्गों को पुरोबन्धित करने में जोखिम है, जिनमें अग्रिम जमानत इसलिए अनुज्ञात की जा सकती है क्योंकि जीवन में अप्रत्याशित संभावनाएं होती हैं और नई-नई चुनौतियां सामने आती हैं। न्यायिक विवेकाधिकार को इतना स्वतंत्र होना चाहिए जिससे कि इन सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर कार्य किया जा सके और इन चुनौतियों का सामना किया जा सके। (पैरा 14)

इस उपबन्ध में उन शर्तों के मौजूद होने सम्बन्धी अर्थान्वयन के लिए कोई भी औचित्य दिखाई नहीं पड़ता जिनके अध्यधीन रहते हुए संहिता की धारा 437(1) के अधीन जमानत अनुदत्त की जा सकती है। अजमानतीय अपराधों के सम्बन्ध में जमानत अनुदत्त करने की शक्ति प्रदत्त करते हुए उस धारा में अपवाद के तौर पर यह उपबन्ध किया गया है कि ऐसा व्यक्ति जिस पर अजमानतीय अपराध का अभियोग है या जिस पर यह सन्देह है कि उसने अजमानतीय अपराध किया है, उस दशा में "ऐसे न छोड़ा जाएगा" यदि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार प्रतीत होता है कि वह मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी है। यदि यह आशय था कि धारा 437(1) में अन्तर्विष्ट अपवाद धारा 438(1) के अधीन दिए जाने वाले

1980(4) eILR(PAT) SC 103

अनुतोष के अनुदान को लागू होना चाहिए, तो पश्चात्कथित धारा में समरूप उपबन्ध के पुनः स्थापित करने की अपेक्षा विधानमण्डल के लिए और अधिक सरल बात कोई न होती। धारा 438 गिरफ्तारी किए जाने के पहले लागू होती है और वास्तव में उसके लागू होने की पूर्व शर्तों में से एक शर्त यह है कि ऐसा व्यक्ति जो कि उसके अधीन अनुतोष प्राप्त करने के लिए आवेदन करता है, यह दर्शित करने में समर्थ होना चाहिए कि उसके पास यह विश्वास करने का कारण है कि "उसे गिरफ्तार किया जा सकता है" जिससे स्पष्ट रूप से यह अभिप्रेत है कि उसे अभी तक गिफ्तार नहीं किया गया है। जमानत के अनुदत्त किए जाने से या इनकार किए जाने से इस प्रभेद का जो सम्बन्ध है वह यह है कि धारा 437 के अधीन आने वाले मामले में कुछ ऐसा आंकड़ा मौजूद है जिसके आधार पर यह दर्शित करना सम्भव है कि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार प्रतीत होते हैं कि आवेदक मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी है। धारा 438 के अधीन आने वाले मामलों में वह प्रक्रम अभी आना शेष है और उसके अधीन अधिकांश मामलों में यह कहना समय से पूर्व और वास्तव में कठिन है कि ऐसा विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त कारण हैं या नहीं हैं। धारा 437(1) में जिस विश्वास के आधार के बारे में बताया गया है, जिसके कारण न्यायालय आवेदक को जमानत पर नहीं छोड़ सकता है, वह प्रसामान्यतः प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिकथित अभिकथन की विश्वसनीयता है। तदनुसार, उच्च न्यायालय का यह मत ठीक नहीं है कि अग्रिम जमानत आपराधिक न्यास भंग जैसे अपराधों के लिए मात्र इस कारण अनुदत्त नहीं की जा सकती है, कि उसके लिए उपबन्धित दण्ड आजीवन कारावास है। परिस्थितियां ऐसे मामलों में भी जमानत के अनुदत्त किए जाने को मोटे तौर से न्यायोचित ठहरा सकती है, यद्यपि न्यायालय किसी मामले में अग्रिम जमानत से इनकार करने के लिए निश्चित रूप से उस दशा में स्वतंत्र होता है, यदि ऐसी इनकारी को न्यायोचित ठहराने के लिए उसके समक्ष सामग्री मौजूद हो। जब ऐसा व्यक्ति जो अभिरक्षा में नहीं है, किसी अपराध का अन्वेषण करने वाले पुलिस अधिकारी के पास पहुंचता है और उसे ऐसी जानकारी देने की प्रस्थापना करता है जिसके परिणामस्वरूप आरोप से सम्बन्धित कोई तथ्य प्रकट होता है, जो कि उसके विरुद्ध लगाया जाए तो उसकी बाबत समुचित रूप से यह समझा जा सकता है कि उसने अपने आपको पुलिस के समक्ष अभ्यर्पित कर दिया है। इस नियम के विस्तृत आधार की बाबत यह बताया गया है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 46 में किसी व्यक्ति की बाबत यह कहे जाने के पूर्व कि उसे अभिरक्षा में ले लिया गया है, कोई औपचारिकता अनुध्यात नहीं है : शब्दों या कार्यवाही द्वारा किसी व्यक्ति

द्वारा अभिरक्षा के लिए समर्पित करना पर्याप्त है। उसी प्रकार के कारणों से इस बात से सहमत होना संभव नहीं है कि अग्रिम जमानत देने से उस दशा में इनकार किया जाना चाहिए कि संहिता की धारा 167(2) के अधीन अपराधी का पुलिस अभिरक्षा के लिए रिमाण्ड किए जाने के वास्ते समुचित मामला अन्वेषण करने वाले अधिकरण द्वारा बनाया गया है।(पैरा 18, 19)

चूंकि जमानत देने से इनकार करना दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने की कोटि में आता है, इसलिए न्यायालय को धारा 438 के विस्तार पर अनावश्यक निर्बन्धनों के अधिरोपण के विरुद्ध विशेषकर तब अपना रुख रखना चाहिए, जबकि विधानमण्डल ने उस धारा के उपबन्धों पर ऐसा कोई भी निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किया है। धारा 438 ऐसा प्रक्रियात्मक उपबन्ध है जिसका सम्बन्ध ऐसे व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता से है जो कि निर्दोषता की उपधारणा का फायदा प्राप्त करने का हकदार है क्योंकि, वह अग्रिम जमानत के लिए प्रस्तुत अपने आवेदन की तारीख को ऐसे अपराध से दोषसिद्ध नहीं किया गया है जिसके सम्बन्ध में वह जमानत प्राप्त करने की ईप्सा कर रहा है। ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों को जो कि धारा 438 में मौजूद नहीं है, अत्युदार रूप से अधिरोपित करने के परिणामस्वरूप उसके उपबन्ध सांविधानिक रूप से आलोचना के विषय हो जाएंगे, क्योंकि दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार अयुक्तियुक्त निर्बन्धनों के अनुपालन पर निर्भर नहीं रखा जा सकता। धारा 438 में अन्तर्विष्ट फायदाप्रद उपबन्ध को अवश्य ही संरक्षा प्रदान की जानी चाहिए, किन्तु उन्हें नष्ट नहीं कर दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं है कि संविधान के अनुच्छेद 21 की चुनौती का मुकाबला करने की दृष्टि से किसी व्यक्ति की स्वाधीनता से उसे वंचित करने के लिए विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को उचित, न्योयोचित और युक्तियुक्त होना चाहिए। जिस रूप में विधानमण्डल ने धारा 438 की कल्पना की है, उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि उसमें ऐसी प्रक्रिया विहित की गई है जो कि अन्यायोचित या अनुचित है। (पैरा 26)

अतः उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को बुद्धिमतापूर्ण और सावधानीपूर्ण रीति से अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए, जिसे करने के लिए वे अपने लम्बे प्रशिक्षण और अनुभव के कारण वैचारिक दृष्टि से उपयुक्त हैं, धारा 438 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए छोड़ देना अधिक अच्छा होगा। न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति इन न्यायालयों को वस्तुपरक रूप से और जमानत अनुदत्त करने की बात को लागू होने वाले सिद्धान्तों के अनुरूप जो कि वर्गों से मान्यता प्राप्त हैं, कार्य करने के लिए उन पर विश्वास

करके अधिक हो सकती है अपेक्षाकृत इसके कि उन्हें अपने विवेकाधिकार के प्रयोग से वंचित कर दिया जाए जो कि विधानमण्डल ने साधारण प्रयोज्यता के अनम्य नियम अधिकथित करके उनको प्रदत्त किया है। किसी कानून को उस रूप में मानना जिस रूप में वह प्राप्त होता है, न केवल आम बात है बल्कि पुरानी बात भी है और वह इस आधार पर है कि कुछ भी हो "विधानमण्डल ने अपनी बुद्धि के अनुसार" किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति का प्रयोग करना ठीक समझा है। उपयोगी रूप से कोई परम्परा विकसित हो सकती है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय की बुद्धि के अनुसार अपनी वैवेकिक शक्तियों का प्रयोग करने के लिए विशेषकर उस समय उन पर विश्वास किया जा सकता है जबकि विधानमण्डल ने अपनी बुद्धि के अनुसार विवेकाधिकार के प्रयोग को उनकी देखरेख के लिए सौंपा हो। यदि वे गलती करते हैं तो वे ठीक किए जाने के दायी हैं। (पैरा 33)

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 438(1) में ऐसी शर्तें अधिकथित हैं जिसकी पूर्ति अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के पूर्व करनी पड़ती है। आवेदक को यह अवश्य ही दर्शित करना चाहिए कि उसके पास विश्वास करने का कारण है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। "विश्वास करने का कारण" अभिव्यक्ति के उपयोग से यह दर्शित होता है कि यह विश्वास कि आवेदक को उस प्रकार गिरफ्तार किया जा सकता है, युक्तियुक्त आधारों पर आधारित होना चाहिए। मात्र 'भय' 'विश्वास' नहीं है, जिस कारण से आवेदक के लिए यह दर्शित करना ही काफी नहीं है कि उसके मन में किसी प्रकार की अस्पष्ट आशंका है कि कोई उस पर ऐसे अभियोग लगाने जा रहा है जिसके अनुसरण में गिरफ्तार किया जा सकता है। उन आधारों को जिन पर आवेदक का यह विश्वास आधारित है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है, न्यायालय द्वारा वस्तुपरक रूप से परीक्षा किए जाने के लायक होना चाहिए, क्योंकि केवल तभी न्यायालय यह अवधारित कर सकता है कि क्या आवेदक के पास यह विश्वास करने का कारण है कि उसे इस प्रकार गिरफ्तार किया जा सकता है। अतः अस्पष्ट और साधारण अभिकथनों के आधार पर धारा 438(1) का सहारा इस प्रकार नहीं लिया जा सकता, मानो कि किसी व्यक्ति को सम्भावित गिरफ्तारी के विरुद्ध शाश्वत् रूप से लैस किया गया हो। अन्यथा, अग्रिम जमानत के लिए किए जाने वाले अनेक आवेदन किसी भी स्थिति में इतने अधिक होंगे जितने कि वयस्क लोग होते हैं। अग्रिम जमानत किसी व्यक्ति की स्वाधीनता को सुनिश्चित करने की युक्ति है; यह न तो अपराध करने का पासपोर्ट है और न ही सम्भाव्य या असम्भाव्य किसी या सभी प्रकार के

अभियोगों के विरुद्ध ढाल है । द्वितीयतः यदि अग्रिम जमानत के लिए आवेदन उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तो उसे इस प्रश्न पर अपनी बुद्धि का उपयोग अवश्य ही करना चाहिए और यह अवश्य विनिश्चित करना चाहिए कि ऐसा अनुतोष देने के लिए मामला बनाया गया है । वह संहिता की धारा 437 के अधीन सम्बन्धित मजिस्ट्रेट के विनिश्चय के लिए उस प्रश्न को उस समय और तब के लिए नहीं छोड़ सकता जब कभी ऐसा अवसर आए । ऐसा रास्ता अपनाने से धारा 438 का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा । तृतीयतः, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का फाइल करना धारा 438 के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्ववर्त्ती शर्त नहीं है । युक्तियुक्त विश्वास पर आधारित सम्भाव्य गिरफ्तार की असंगतता की बाबत यह दर्शित किया जा सकता है कि वह तब भी विद्यमान है यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभी फाइल न भी की गई हो । चतुर्थतः, जब तक कि आवेदक को गिरफ्तार न कर लिया गया हो, अग्रिम जमानत प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद भी अनुदत्त की जा सकती है । (पैरा 35)

जमानत के मामूली आदेश और अग्रिम जमानत के आदेश के बीच जो प्रभेद है, वह यह है कि जबकि पूर्वकथित गिरफ्तारी के बाद अनुदत्त किया जाता है और इसी कारण से उससे पुलिस की अभिरक्षा से निर्मुक्ति अभिप्रेत है, पश्चात्कथित गिरफ्तारी के पूर्वानुमान के आधार पर अनुदत्त किया जाता है और इसी कारण से गिरफ्तारी के समय से ही प्रभावशील हो जाता है । पुलिस अभिरक्षा अजमानतीय अपराधों के लिए गिरफ्तारी की आवश्यक सहवर्ती है । यदि ऐसा कहा जाए, तो अग्रिम जमानत का आदेश ऐसे अपराध या उन अपराधों के लिए जिसके या जिनके सम्बन्ध में आदेश जारी किया जाता है, की गई गिरफ्तारी के पश्चात् पुलिस अभिरक्षा के विरुद्ध बीमा का काम करता है । अन्य शब्दों में गिरफ्तारी के बाद जमानत के आदेश से भिन्न, वह गिरफ्तारी के पहले की ऐसी विधिक प्रक्रिया है जो यह निदेश देती है कि यदि वह व्यक्ति जिसके पक्ष में आदेश जारी किया गया है, इसके पश्चात् ऐसे अभियोग के आधार पर गिरफ्तार किया जाता है जिसके सम्बन्ध में निदेश दिया गया है, तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा । (पैरा 7)

वस्तुतः, धारा 438 के उपबन्धों का सहारा अभियुक्त की गिरफ्तारी के बाद नहीं लिया जा सकता । ऐसे अभियुक्त को जो गिरफ्तार कर लिया गया है, "अग्रिम जमानत" अनुदत्त करना अपने आप में वहां तक परस्पर विरोधी है जहां तक कि ऐसे अपराध या अपराधों का जिसके या जिनके लिए उसे गिरफ्तार किया गया है, सम्बन्ध है । गिरफ्तारी के बाद अभियुक्त को

1990(4) eILR(PAT) SC 103

संहिता की धारा 437 या 439 के अधीन अपने उपचार की ईप्सा उस दशा में करनी चाहिए, यदि वह उस अपराध या उन अपराधों के सम्बन्ध में जिसके या जिनके लिए उसे गिरफ्तार किया गया है, जमानत पर छोड़ दिया जाना चाहता है। (पैरा 35)

अग्रिम जमानत से सम्बन्धित सर्वग्राही आदेश (ब्लैंकेट आर्डर) साधारण रूप से नहीं दिया जाना चाहिए। यह बात इस धारा की भाषा से ही बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जो कि, आवेदक से यह दर्शित करने की अपेक्षा करती है कि उसके पास यह विश्वास करने का कारण है कि उसे गिरफ्तार किया जा सकता है। किसी विश्वास के युक्तियुक्त आधारों पर आधारित होने की बात केवल तभी कही जा सकती है, यदि ऐसी कोई ठोस बात हो जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आवेदक की यह आशंका कि उसे गिरफ्तार किया जा सकता है, वास्तविक है। यही कारण है कि प्रसामान्यतः धारा 438(1) के अधीन इस प्रभाव का निदेश जारी नहीं किया जाना चाहिए कि आवेदक को जब कभी भी गिरफ्तार किया जाएगा और जिस किसी भी अपराध के लिए गिरफ्तार किया जाएगा जमानत पर छोड़ दिया जाएगा। अग्रिम जमानत के "सर्वग्राही आदेश" से जो बात अभिप्रेत है, वह ऐसा आदेश है जो कि हर अभिकथित रूप से अवैध किसी भी प्रकार के और हर प्रकार के क्रियाकलाप को वस्तुतः ऐसी किसी भी घटना को जो कि सम्भाव्य या असम्भाव्य हो, और जिसके सम्बन्ध में कोई ठोस जानकारी सम्भवतः नहीं दी जा सकती, अपनी परिधि में लेने या संरक्षित करने के आवरण के रूप में कार्य करता है। धारा 438(1) के अधीन विवेकाधिकार का तर्क-आधार युक्तियुक्त आधारों पर आधारित आवेदक का यह विश्वास है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। आवेदक से यह प्रत्याशा करनी अवास्तविक है कि वह अपना आवेदन उतनी अति-सावधानी के साथ लिखेगा जितनी कि किसी सिविल मामले में किए जाने वाले अभिवचन में बरती जाती है और इस प्रकार की अपेक्षा इस धारा की नहीं है। किन्तु आवेदक द्वारा विनिर्दिष्ट घटनाओं और तथ्यों को इस दृष्टि से प्रकट करना चाहिए जिससे कि न्यायालय उसके विश्वास की युक्तियुक्तता के सम्बन्ध में निर्णय करने में समर्थ हो सके, जिसकी विद्यमानता इस धारा द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग के लिए अनिवार्य शर्त है। (पैरा 36)

इस तथ्य के अलावा कि कानून की भाषा यह अर्थान्वयन करने के लिए विवश करती है, इस बात पर जोर देने में यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त अन्तर्निहित है कि उन तथ्यों को जिनके आधार पर धारा 438(1) के अधीन

1980(4) eILR(PAT) SC 103

निदेश दिए जाने की ईप्सा की जाती है, स्पष्ट और विनिर्दिष्ट होना चाहिए; न कि अस्पष्ट और साधारण। उसी सिद्धान्त का पालन करके ही किसी व्यक्ति की स्वाधीनता के अधिकार के और पुलिस को रिपोर्ट किए गए अपराधों में उसके द्वारा अन्वेषण करने के अधिकार के बीच सम्भावित टकराव से बचा जा सकता है। अग्रिम जमानत के सर्वग्राही आदेश के परिणामस्वरूप अन्वेषण के मामले में पुलिस के अधिकार और कर्त्तव्य दोनों में ही गम्भीर हस्तक्षेप होना निश्चित है, क्योंकि इस बात का ध्यान न रखते हुए कि आवेदक द्वारा किस प्रकार का अपराध किए जाने की बाबत अभिकथन किया गया है, और कब किया गया है, जमानत का ऐसा आदेश जिसमें अभिकथित रूप से अवैध किसी भी प्रकार के क्रियाकलाप की परिकल्पना की गई है, आवेदक को गिरफ्तार करने से पुलिस को तब भी निवारित करेगा, यदि वह जनता की उपस्थिति में ही कोई अपराध, उदाहरणार्थ हत्या, करता है। तब ऐसा आदेश अव्यवस्था का अनुज्ञापत्र हो सकता है और ऐसे अपराधों के जिनकी बाबत कदाचित पहले से नहीं बताया जा सकता था, जब कि आदेश किया गया था; शीघ्र अन्वेषण को अवरुद्ध करने का साधन हो सकता है। अतः ऐसे न्यायालय को जो कि अग्रिम जमानत अनुदत्त करता है, ऐसे अपराध या अपराधों को विनिर्दिष्ट करने की सावधानी बरतनी चाहिए जिसके या जिनके सम्बन्ध में ही वह आदेश प्रभावी होगा। उस शक्ति का प्रयोग शून्य में नहीं किया जाना चाहिए। (पैरा 37)

क्या लोक अभियोजक को सूचना दिए बिना उस धारा के अधीन कोई आदेश किया जा सकता है? ऐसा आदेश किया जा सकता है। किन्तु सूचना लोक अभियोजक या सरकारी अधिवक्ता को तुरन्त जारी की जानी चाहिए और जमानत सम्बन्धी प्रश्न की पुनः परीक्षा पक्षकारों की सम्बन्धित दलीलों की रोशनी में की जानी चाहिए। अन्तरिम आदेश को भी उस धारा की अपेक्षाओं के अनुरूप ही होना चाहिए और उपयुक्त शर्तें उस प्रक्रम में भी आवेदक पर अधिरोपित की जानी चाहिए। क्या धारा 438(1) के अधीन किए गए आदेश के प्रवर्तन को निश्चित समय तक सीमित रहना चाहिए? यह आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा करने के लिए कारण मौजूद हैं, तो न्यायालय उस आदेश की परिधि के भीतर आने वाले विषय के संबंध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद भी संक्षिप्त कालावधि तक आदेश के प्रवर्तन को सीमित कर सकेगा। ऐसे मामलों में आवेदक को इस बात का निदेश दिया जा सकता है कि वह संहिता की धारा 437 या 439 के अधीन यथापूर्वोक्त प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद युक्तियुक्त रूप

1980(4)eILR(PAT) SC 103

से संक्षिप्त कालावधि के भीतर जमानत का आदेश अभिप्राप्त कर ले। किन्तु इस बात का अनुसरण अपरिवर्तनीय नियम के रूप में किए जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रसामान्य नियम किसी कालावधि के सम्बन्ध में आदेश के प्रवर्तन को सीमित करना नहीं होना चाहिए। (पैरा 38)

प्रभेदित निर्णय

		पैरा
[1977]	[1977] 4 उम० नि० प० 752-762= [1977] 2 एस० सी० आर० 52 : **बालचन्द जैन बनाम मध्य प्रदेश राज्य** (Balchand Jain *v.* State of Madhya Pradesh);	24, 25
[1945]	एल० आर० (1945) 71 इण्डियन अपील्स 203 : **किंग एम्परर बनाम ख्वाजा नजीर अहमद** (King Emperor *v.* Khwaja Nazir Ahmed);	19

अनुसरित निर्णय

[1979]	[1979] 1 उम० नि० प० 243=(1978) 1 एस० सी० सी० 248 : **मेनका गांधी बनाम भारत संघ** (Menaka Gandhi *v.* Union of India);	26
[1961]	[1961] 1 एस० सी० आर० 14 : **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम देवमन उपाध्याय** (State of Uttar Pradesh *v.* Deoman Upadhyaya);	19

निर्दिष्ट निर्णय

[1978]	[1978] 4 उम० नि० प० 1001-1006= (1978) 1 एस० सी० सी० 210 : **गुडिकान्ति नरसिंहलू बनाम लोक अभियोजक, आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय** (Gudikanti Narasinhula *v.* Public Prosecutor, High Court of Andhra Pradesh);	28, 32

1980(4) eILR(PAT) SC 103

[1978]	[1978] 4 उम० नि० प० 966-989= (1978) 1 एस० सी० सी० 118 : गुरचरण सिंह बनाम राज्य (दिल्ली प्रशासन) [Gurcharan Singh v. State (Delhi Administration)];	29
[1962]	[1962] २ एस० सी० आर० 622 : राज्य बनाम कैप्टन जगजीत सिंह (The State v. Captain Jagjit Singh);	31
[1931]	ए० आई० आर० 1931 इलाहाबाद 504 : के० एन० जोगलेकर बनाम किंग एम्परर (K. N. Joglekar v. Emperor);	27
[1931]	ए० आई० आर० 1931 इलाहाबाद 356-358 : एम्परर बनाम एच० एल० हचिन्सन (Emperor v. H. L. Hutchinson);	27
[1924]	ए० आई० आर० 1924 कलकत्ता 476-479-480 : नगेन्द्र बनाम किंग एम्परर (Nagendra v. King Emperor);	27
[1912]	एल० आर० (1912) ए० सी० 623 : हाइमन और एक अन्य बनाम रोज (Hyman and Another v. Rose)	14

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1977 की दाण्डिक अपील संख्या 335, 336, 337, 338, 339, 346, 347, 350, 351, 352, 365, 366, 367, 383, 396, 397, 398, 399, 406, 415, 416, 417, 418, 419, 420, 430, 431, 438, 439, 440, 447, 448, 449, 463, 473, 474, 498, 506, 508, 477, 512, 511, 1978 की संख्या 1, 15, 16, 17, 38, 53, 69, 70, 1977 की संख्या 469, 499, 1978 की संख्या 40, 41, 81, 82, 98, 109, 130, 141, 142, 145, 149, 153 और 154.

और

1978 के विशेष इजाजत पिटीशन (दाण्डिक) संख्या 260, 272, 273, 274, 383, 388 और 479.

1977 के दाण्डिक प्रकीर्ण संख्या 3753 एम, 3719 एम, 3720 एम, 3916 एम, 3718 एम, 3798 एम, 3565 एम, 3892 एम, 3595 एम, 3596 एम, 4359 एम, 3563 एम, 3484 एम, 4627 एम, 3893 एम, 3894 एम, 3587 एम, 4540 एम, 4908 एम, 3031 एम, 4934 एम, 4916 एम, 4888 एम, 4964 एम, 4992 एम, 3688 एम, 4907 एम, 5176 एम, 5177 एम, 5197 एम, 3564 एम, 3716 एम, 3717 एम, 5344 एम, 5558 एम, 5079 एम, 5613 एम, 5905 एम, 5254 एम, 5253 एम, 5919 एम, 5907 एम, 6005 एम, 1978 के संख्या 45 एम, 68 एम, 102 एम, 246 एम, 1977 का संख्या 6114 एम, 1978 के 462 एम, 248 एम, 1977 के संख्या 5240 एम, 5892 एम, 19/78, 956/77, 104 एम/78, 184 एम/78, 605/78, 5995 एम/77, 941 एम/78, 904 एम/78, 1005 एम/78, 1137 एम/78, 819 एम/78, 1260 एम/78, 866 एम/78 और 541 एम/78, 4897 एम/77, 4758 एम/77, 364 एम/78, 1167/78, 1168 एम/78 और 1381 एम/78 में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के तारीख 13 सितम्बर, 1977, 13 सितम्बर, 1977, 13 सितम्बर, 1977, 15 सितम्बर, 1977, 13 सितम्बर, 1977, 21 सितम्बर, 1977, 19 सितम्बर, 1977, 23 सितम्बर, 1977, 23 सितम्बर, 1977, 23 सितम्बर, 1977, 26 सितम्बर, 1977, 26 सितम्बर, 1977, 30 सितम्बर, 1977, 7 अक्तूबर, 1977, 16 सितम्बर, 1977, 9 सितम्बर, 1977, 20 सितम्बर, 1977, 5 अक्तूबर, 1977, 20 अक्तूबर, 1977, 26 सितम्बर, 1977, 20 अक्तूबर, 1977, 20 अक्तूबर, 1977, 19 अक्तूबर, 1977, 24 अक्तूबर, 1977, 25 अक्तूबर, 1977, 14 सितम्बर, 1977, 24 अक्तूबर, 1977, 2 नवम्बर, 1977, 2 नवम्बर, 1977, 3 नवम्बर, 1977, 2 सितम्बर, 1977, 7 सितम्बर, 1977, 2 सितम्बर, 1977, 9 नवम्बर, 1977, 22 नवम्बर, 1977, 23 नवम्बर, 1977, 24 नवम्बर, 1977, 13 दिसम्बर, 1977, 11 नवम्बर, 1977, 23 नवम्बर, 1977, 14 दिसम्बर, 1977, 13 दिसम्बर, 1977, 20 दिसम्बर, 1977, 3 जनवरी, 1978, 4 जनवरी, 1978, 5 जनवरी, 1978, 16 जनवरी, 1978, 18 जनवरी, 1978, 30 जनवरी, 1978, 25 जनवरी, 1978, 18 नवम्बर, 1977, 13 दिसम्बर, 1977, 10 जनवरी, 1978, 13 जनवरी, 1978, 1 फरवरी, 1978, 1 फरवरी, 1978, 8 फरवरी, 1978, 21 दिसम्बर, 1977, 1 मार्च, 1978, 3 मार्च, 1978, 3 मार्च, 1978, 10 मार्च, 1978, 8 मार्च, 1978, 20 मार्च,

1978, 17 मार्च, 1978, 15 फरवरी, 1978, 17 फरवरी, 1978, 17 फरवरी, 1978, 24 जनवरी, 1978, 14 मार्च, 1978, 14 मार्च, 1978 और 27 मार्च, 1978 वाले निर्णयों और आदेशों के विरुद्ध विशेष इजाज़त लेकर की गई अपीलें।

अपीलार्थियों की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 335, 365, 430, 431, 506, 508, 499, 1978 की सं० 130, 141, 142, 153, 154 में) और **पिटीशनरों की ओर से** (1978 के विशेष इजाज़त पिटीशन सं० 272-274 में)	श्री एम० सी० भण्डारे (1977 की दाण्डिक अपील सं० 335, 430, 431, 438 में), श्री गोबिन्द दास (1978 की दाण्डिक अपील सं० 153 में), श्री के० एस० थापर (1977 की दाण्डिक अपील सं० 506 और 1978 की 154 में), श्री दलीप सिंह—यथोक्त—श्रीमती सुनन्दा भण्डारे, सर्वश्री ए० एन० कर्खनीज़, दीपक थापर (1977 की दाण्डिक अपील सं० 335, 430, 431, 506 और 1978 की दाण्डिक अपील सं० 154 में) और कुमारी मलिनी
अपीलार्थियों की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 336, 337, 338, 350, 396, 397-399, 473, 474 और 1978 की दाण्डिक अपील सं० 1, 15, 16, 17, 69, 70, 81, 82, 98, 149 और 109 में)	श्री फ्रैंक एन्थोनी (1977 की दाण्डिक अपील सं० 350 में), श्री वी० सी० महाजन (1977 की दाण्डिक अपील सं० 338 में), श्री ओ० पी० शर्मा और श्री आर० सी० भाटिया
अपीलार्थी की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 339 में)	श्री हरजिन्दर सिंह
अपीलार्थियों की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 347, 366, 415-420, 477, 511, 512, 469 और 1978 की दाण्डिक अपील सं० 78 में)	सर्वश्री बी० एस० बिन्द्रा और एस० एम० अशरी तथा श्रीमती लक्ष्मी अरविन्द

अपीलार्थी की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 346 में)	सर्वश्री पी० आर० मृदुल, एच० के० पुरी, अरुणेश्वर प्रसाद और विवेक सेठ
अपीलार्थियों की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 351, 352, 406, 438-40, 463 में)	एल० एन० सिन्हा (1977 की दाण्डिक अपील सं० 406 और 352 में), सर्वश्री आर० पी० सिंह, एल० आर० सिंह, सुमन कपूर और सुकुमार साहू (1977 की दाण्डिक अपील सं० 406 और 352 में), श्री एम० सी० भण्डारे (1977 की दाण्डिक अपील सं० 436 में), सर्वश्री पी० पी० सिंह (1977 की दाण्डिक अपील सं० 435 में) और आर० के० जैन
अपीलार्थी की ओर से (1978 की दाण्डिक अपील सं० 53 में)	श्री एस० के० जैन
अपीलार्थी की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 367 और 1978 का विशेष इजाजत पिटीशन संख्या 383 में)	श्री वी० एम० तारकुण्डे (1977 की दाण्डिक अपील सं० 367 में), सर्वश्री एम० एम० श्रीवास्तव, आर० सतीश और ई० सी० अग्रवाल
अपीलार्थी की ओर से (1978 की दाण्डिक अपील सं० 383 और 1977 की दाण्डिक अपील सं० 498 में)	सर्वश्री वी० सी० महाजन, हरभगवान सिंह, एस० के० मेहता, के० आर० नागराज और पी० एन० पुरी
अपीलार्थी की ओर से (1978 के विशेष इजाजत पिटीशन संख्या 260 में)	श्री के० के० मोहन
अपीलार्थी की ओर से (1978 की दाण्डिक अपील सं० 40, 41 में)	सर्वश्री ए० के० सेन और रथिन दास
अपीलार्थी की ओर से (1978 के विशेष इजाजत पिटीशन संख्या 388 में)	श्री एम० एम० एल० श्रीवास्तव

अपीलार्थियों की ओर से (1978 की दाण्डिक अपील सं० 38 और 1978 के विशेष इजाज़त पिटीशन संख्या 479 में)	सर्वश्री एल० एम० सिंघवी और एन० एस० दास बहल
अपीलार्थियों की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 447-449 में) और **प्रत्यर्थियों की ओर से** (1977 की दाण्डिक अपील सं० 335-339, 347, 350-52, 366, 367, 388, 396-398, 406, 415-420, 438-440, 463, 473, 474, 477, 498, 511, 1978 की दाण्डिक अपील सं० 1, 15-17, 1977 की सं० 510, 1978 की संख्या 109 और 1978 की विशेष इजाज़त पिटीशन सं० 388, 1978 की दाण्डिक अपील सं० 98 और 1978 के विशेष इजाज़त पिटीशन सं० 260)	श्री सोली जे० सोराबजी, अपर सालिसिटर जनरल (1977 की दाण्डिक अपील सं० 335 में), श्री बिशम्बर लाल खन्ना (1977 की दाण्डिक अपील संख्या 355 में), सर्वश्री हरदेव सिंह, आर० एस० सोढी और बी० बी० सिंह
प्रत्यर्थियों की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 365, 430, 431, 1978 की संख्या 508, 499, और 1978 की संख्या 38, 141 और 142 में)	श्री सोली जे० सोराबजी, अपर सालिसिटर जनरल (1977 की दाण्डिक अपील सं० 430 में), श्री ठाकुर नौबत सिंह, महाधिवक्ता, हरियाणा, श्री एस० एन० आनन्द (1977 की दाण्डिक अपील सं० 431 और 499 में) श्री आर० एन० सचदे
प्रत्यर्थियों की ओर से (1978 की दाण्डिक अपील सं० 40 और 41 में)	सर्वश्री एम० एम० क्षेत्रिया और जी० सी० चटर्जी

अपीलार्थी की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 346 में)	सर्वश्री एम० एम० पंछी और पी० सी० भरतरी
कुलपति, पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से (1977 की दाण्डिक अपील सं० 346 में)	सर्वश्री जे० के० गुप्ता, बी० आर० अग्रवाल और जेनेन्द्र लाल

अभिलेख-अधिवक्ता

अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 335, 365, 430, 431, 506, 508 में), पिटीशनर की ओर से (विशेष इजाजत पिटीशन सं० 272, 273, 274 में), अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 153, 154, 141, 142, 130 में) और प्रत्यर्थियों की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 41, 40, 449 में)	श्रीमती सुनन्दा भण्डारे
अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 336-338, 350, 396-399 में) प्रत्यर्थियों की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 447 में) और अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 473, 474, 149, 109, 82, 81, 70, 69, 1, 15, 16, 17, 98 में)	श्री ओ० पी० शर्मा

1980(4) eILR(PAT) SC 103

अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 339 में)	श्री हरजिन्दर सिंह
अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 346 में)	श्री एच० के० पुरी
अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 347, 366, 415 से 420 में) प्रत्यर्थियों की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 448 में) अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 477, 512, 511, 145, 469 में)	मनु जस्टीनियन एण्ड कम्पनी
अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 351, 352, 438-439, 463, 53 में)	श्री आर० के० जैन
अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 367 में) और पिटीशनर की ओर से (विशेष इजाज़त पिटीशन सं० 383 में)	श्री ई० सी० अग्रवाल
अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 383, 498 में)	श्री एस० के० मेहता
पिटीशनर की ओर से (विशेष इजाज़त पिटीशन सं० 388 में)	श्री एम० एम० एल० श्रीवास्तव
पिटीशनर की ओर से (विशेष इजाज़त पिटीशन सं० 479 में) और अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 38 में)	श्री एन० एस० दास बहल

अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 447-449 में) — श्री हरदेव सिंह

पिटीशनर की ओर से (1978 के विशेष इजाजत पिटीशन सं० 260 में) — श्री एम० एम० मोहन

प्रत्यर्थियों की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 335, 336, 337-339, 347, 350, 351-352, 366-367, 383, 396-399, 406, 415 से 420, 438-439, 463, 473-474, 477, 109, 69, 53, 469, 1, 15, 16, 17, 90 में) — श्री हरदेव सिंह

प्रत्यर्थियों की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 346 में) — श्री पी० सी० भरतारी

प्रत्यर्थियों की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 365, 430, 431 में) — श्री आर० एन० सचदे

अपीलार्थी की ओर से (दाण्डिक अपील सं० 41, 40 में) — श्री रथिन दास

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायाधिपति वाई० वी० चन्द्रचूड़ ने दिया।

मुख्य न्यायाधिपति चन्द्रचूड़—

विशेष इजाजत लेकर की गई इन अपीलों में अत्यधिक लोकमहत्व का ऐसा प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है जिसका सम्बन्ध इस समय दैहिक स्वाधीनता और पुलिस की अन्वेषणात्मक शक्तियों से है। दोनों प्रकार के इन हितों में समाज ने बहुत महत्वपूर्ण दांव लगा रखा था, यद्यपि किसी विशिष्ट समय पर उनका सापेक्ष महत्व राजनीतिक परिस्थितियों के स्वरूप और अवरोध पर निर्भर है। इन अपीलों में हमारा कार्य यह है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का

अधिनियम संख्या 2) की धारा 438 के विस्तार का अवधारण करते हुए इन हितों में सर्वाधिक सन्तुलन किस प्रकार से कायम किया जा सकता है—

2. धारा 438 में ऐसे व्यक्ति को जिसे गिरफ्तारी की आशंका हो, जमानत देने के लिए निदेश जारी करने की बाबत उपबन्ध किया गया है। वह इस प्रकार से है—

"438(1) जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास करने का कारण है कि हो सकता है उसको किसी अजमानतीय अपराध के लिए किए जाने के अभियोग में गिरफ्तार किया जाए, तो वह इस धारा के अधीन निदेश के लिए उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय को आवेदन कर सकता है; यदि वह न्यायालय ठीक समझे तो वह निदेश दे सकता है कि ऐसी गिरफ्तारी की स्थिति में उसको जमानत पर छोड़ दिया जाए।

(2) जब उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय उपधारा (1) के अधीन निदेश देता है तब वह उस विशिष्ट मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन निदेशों में ऐसी शर्तें जो वह ठीक समझे, सम्मिलित कर सकता है जिनके अन्तर्गत निम्नलिखित भी हैं,—

(i) यह शर्त कि वह व्यक्ति पुलिस अधिकारी द्वारा पूछे जाने वाले परिप्रश्नों का उत्तर देने के लिए जैसे और जब अपेक्षित हो, उपलब्ध होगा;

(ii) यह शर्त कि वह व्यक्ति उस मामले के तथ्यों से अवगत किसी व्यक्ति को न्यायालय या किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष ऐसे तथ्यों को प्रकट न करने के लिए मानने के वास्ते प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः उसे कोई उत्प्रेरणा, धमकी या वचन नहीं देगा;

(iii) यह शर्त कि वह व्यक्ति न्यायालय की पूर्व अनुज्ञा के बिना भारत नहीं छोड़ेगा;

(iv) ऐसी अन्य शर्तें जो धारा 437 की उपधारा (3) के अधीन ऐसे अधिरोपित की जा सकती है मानो उस धारा के अधीन जमानत मंजूर की गई हो।

(3) यदि तत्पश्चात् ऐसे व्यक्ति को ऐसे अभियोग पर पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी द्वारा वारंट के बिना गिरफ्तार किया जाता है और वह या तो गिरफ्तारी के समय या जब वह ऐसे

1980(4) eILR(PAT) SC 103

अधिकारी की अभिरक्षा में है तब किसी समय जमानत देने के लिए तैयार है, तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा; तथा यदि ऐसे अपराध का संज्ञान करने वाला मजिस्ट्रेट यह विनिश्चय करता है कि उस व्यक्ति के विरुद्ध प्रथम बार ही वारंट जारी किया जाना चाहिए, तो वह उपधारा (1) के अधीन न्यायालय के निदेश के अनुरूप जमानतीय वारंट जारी करेगा।

3. 1978 की दाण्डिक अपील संख्या 335 जो कि हमारे समक्ष प्रस्तुत अनेक अपीलों में से प्रथम है, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के तारीख 13 सितम्बर, 1977 वाले निर्णय में से उद्भूत हुई है। उसमें जो अपीलार्थी श्री गुरबख्श सिंह सिब्बिया है, वह पंजाब सरकार के कांग्रेसी मंत्रालय में सिंचाई और बिजली मंत्री था। उसके और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध राजनीतिक भ्रष्टाचार के गम्भीर अभिकथन किए गए थे, जिस पर पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय में यह प्रार्थना करते हुए धारा 438 के अधीन आवेदन फाइल किए गए थे कि अपीलार्थियों को पूर्वोक्त आरोपों के आधार पर उनकी गिरफ्तारी की स्थिति में जमानत पर छोड़ दिए जाने का निदेश दिया जाए। इस मामले के महत्व को समझते हुए विद्वान् एकल न्यायाधीश ने वह आवेदन पूर्ण-न्यायपीठ को निर्देशित कर दिया जिसने अपने तारीख 13 सितम्बर, 1977 वाले निर्णय द्वारा उन्हें खारिज कर दिया।

4. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 में वर्तमान धारा 438 का तत्सम्बन्धी कोई भी विनिर्दिष्ट उपबन्ध नहीं था। पुरानी संहिता के अधीन इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि क्या न्यायालयों को गिरफ्तारी का पूर्वानुमान करते हुए जमानत का आदेश देने की अन्तर्निहित शक्ति है, विभिन्न उच्च न्यायालयों के बीच स्पष्ट मत-वैभिन्न था और प्रबल दृष्टिकोण यह था कि उसे कोई भी शक्ति प्राप्त नहीं है। दण्ड प्रक्रिया संहिता में व्यापक संशोधन करने की आवश्यकता बहुत समय से महसूस की जा रही थी और संहिता को और अधिक प्रभावी तथा व्यापक बनाने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभिन्न सुझाव दिए गए थे। भारत के विधि आयोग ने तारीख 24 सितम्बर, 1969 वाली अपनी 41 वीं रिपोर्ट में संहिता में ऐसा उपबन्ध पुरःस्थापित करने की आवश्यकता बताई थी जिससे कि उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय "अग्रिम जमानत" अनुदत्त करने में समर्थ हो सकें। उसने अपनी रिपोर्ट (खण्ड I) के पैरा 39.9 में यह मत व्यक्त किया था—

"39.9 हमने किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी के पूर्व, जमानत पर (जो कि सामान्यतया "अग्रिम जमानत" के रूप में ज्ञात है) उसे छोड़ने

का निदेश देने के सुझाव पर बहुत सावधानी के साथ विचार किया। यद्यपि अग्रिम जमानत अनुदत्त करने सम्बन्धी न्यायालय की शक्ति के बारे में न्यायालयों के बीच मतभेद है, तथापि बहुमत की राय यह है कि संहिता के विद्यमान उपबन्धों के अधीन ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है। "अग्रिम जमानत" अनुदत्त करने की आवश्यकता मुख्यत: इसलिए उत्पन्न होती है, क्योंकि कभी-कभी प्रभावशाली व्यक्ति अपने प्रतिद्वंदियों को नीचा दिखाने के प्रयोजनार्थ और कुछ दिनों तक उन्हें जेल में निरुद्ध करके अन्य प्रयोजनों के लिए झूठे मामले में फंसाने की कोशिश करते हैं। हाल में, राजनीतिक प्रतिद्वंदिता की सुस्पष्टता के साथ-साथ इस प्रवृत्ति के आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ने के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। झूठे मामले के अलावा, जहां कि यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि अपराध का अभियुक्त व्यक्ति का फरार होना सम्भाव्य नहीं है या उसके द्वारा अपनी स्वाधीनता का अन्यथा दुरुपयोग करना उस समय सम्भाव्य नहीं है, जबकि वह जमानत पर हो, युक्तियुक्त आधार मौजूद हैं, वहां उससे यह अपेक्षा करने में कोई भी न्यायोचित्य दिखाई नहीं पड़ता है कि वह प्रथमत: अपने-आपको अभिरक्षा के लिए सुपर्द कर दे, कुछ दिनों तक जेल में रहे और तब जमानत के लिए आवेदन करें।

हम इस सुझाव को स्वीकार करने की सिफारिश करते हैं। इसके अलावा हमारा मत यह है कि यह विशेष शक्ति उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय को ही प्रदत्त की जानी चाहिए और यह कि ऐसे आदेश को गिरफ्तारी के उस समय या उसके बाद प्रभावी होना चाहिए।

इस सुझाव के ब्यौरों को निश्चित करने की दृष्टि से, नई धारा का निम्नलिखित प्रारूप विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

*"497क-(1) जब किसी व्यक्ति को यह युक्तियुक्त आशंका हो कि उसको किसी अजमानतीय अपराध के किए जाने के अभियोग में गिरफ्तार किया जाएगा, तो वह इस

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"497A. (1) When any person has a reasonable apprehension that he would be arrested on an accusation of having committed a non-bailable offence, he may apply to High Court or the

धारा के अधीन निदेश के लिए उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय को आवेदन कर सकता है। वह न्यायालय अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए यह निदेश दे सकेगा कि उसकी गिरफ्तारी की स्थिति में उसको जमानत पर छोड़ दिया जाए।

(2) उस व्यक्ति के विरुद्ध अपराध का संज्ञान करने वाला मजिस्ट्रेट, धारा 204(1) के अधीन कदम उठाते हुए, या तो समन या जमानतीय वारण्ट जारी करेगा, जैसा कि उपधारा (1) के अधीन न्यायालय के निदेश में उपदर्शित हो।

(3) यदि कोई व्यक्ति जिसके सम्बन्ध में ऐसा निदेश दिया गया है, उस अपराध के किए जाने के अभियोग में थाने के भारसाधक अधिकारी द्वारा वारण्ट के बिना गिरफ्तार किया जाता है, और या तो गिरफ्तारी के समय या ऐसे अधिकारी की अभिरक्षा में रहते हुए किसी भी समय जमानत देने के लिए तैयार है, तो ऐसा व्यक्ति जमानत पर छोड़ दिया जाएगा।"

Court of Session for a direction under this section. That Court may, in its discretion, direct that in the event of his arrest, he shall be released on bail.

(2) A Magistrate taking cognizance of an offence against that person shall, while taking steps under section 204(1), either issue summons or a bailable warrant as indicated in the direction of the Court under sub-section (1).

(3) If any person in respect of whom such a direction is made is arrested without warrant by an officer in charge of a police station on an accusation of having committed that offence, and is prepared either at the time of arrest or at any time while in the custody of such officer to give bail, such person shall be released on bail."

1980(4) eILR(PAT) SC 103

"हमने कानून में कतिपय ऐसी शर्तें, जिन के अधीन ही अग्रिम जमानत अनुदत्त की जा सकती है। अधिकथित करने के प्रश्न पर सावधानी के साथ विचार किया था। किन्तु हमने यह पाया कि उन शर्तों को सर्वांगींण रूप से प्रगणित करना व्यावहारिक नहीं हो सकता; और इसके अलावा ऐसे शर्तों को अधिकथित करने का यह अर्थान्वियन किया जा सकता है कि उसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण मामले पर (किसी भी स्थिति में भागतः) प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इसलिए हम न्यायालय के विवेक पर छोड़ देंगे और कानूनी उपबन्ध की सीमाओं में ही ऐसे विवेकाधिकार को नियंत्रित न करना अच्छा समझेंगे। निस्संदेह वरिष्ठ न्यायालय अपने विवेकाधिकार का प्रयोग उचित रूप से करेंगे और अग्रिम जमानत अनुदत्त करने वाले आदेश में ऐसे कोई मत व्यक्त नहीं करेंगे जिनके परिणामस्वरूप अभियुक्त के न्यायोचित विचारण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो।"

5. विधि आयोग ने जो सुझाव दिया, उसे केन्द्रीय सरकार ने सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया, जिसने उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की अभिव्यक्त शक्ति प्रदत्त करने की दृष्टि से दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1970 के विधेयक के प्रारूप में खण्ड 447 पुरः-स्थापित किया। वह खण्ड इस प्रकार से था—

*"447.(1) जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास करने का कारण हो कि उसको किसी अजमानतीय अपराध के किए जाने के अभियोग में गिरफ्तार किया जाएगा, तो वह इस धारा के अधीन निदेश के लिए उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय को आवेदन कर सकता है; और यदि वह न्यायालय ठीक समझे, तो वह निदेश दे सकता है कि ऐसी गिरफ्तारी की स्थिति में उसको जमानत पर छोड़ दिया जाए।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है—

"447. (1) When any person has reason to believe that he would be arrested on an accusation of having committed a non-bailable offence, he may apply to the High Court or the Court of Session for a direction under this section; and that Court may, if it thinks fit, direct that in the event of such arrest, he shall be released on bail.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

(2) यदि तत्पश्चात् ऐसे व्यक्ति को ऐसे अभियोग पर पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी द्वारा वारण्ट के बिना गिरफ्तार किया जाता है और वह या तो गिरफ्तारी के समय या जब वह ऐसे अधिकारी की अभिरक्षा में है तब किसी समय जमानत देने के लिए तैयार है, तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा तथा यदि ऐसे अपराध का संज्ञान करने वाला मजिस्ट्रेट यह विनिश्चय करता है कि उस व्यक्ति के विरुद्ध प्रथम बार ही वारण्ट जारी किया जाना चाहिए, तो वह उपधारा (1) के अधीन न्यायालय के निदेश के अनुरूप जमानतीय वारण्ट जारी करेगा।"

6. विधि आयोग ने अपनी 48वीं रिपोर्ट (1972) के पैरा 31 में पूर्वोक्त खण्ड के सम्बन्ध में निम्नलिखित टिप्पणी की—

"31. विधेयक में अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए उपबन्ध पुरःस्थापित किया गया है। यह सारतः पूर्ववर्ती आयोग द्वारा की गई सिफारिश के अनुसार है। हम इस बात से सहमत हैं कि यह उपयोगी परिवर्धन होगा, यद्यपि हमें यह अवश्य ही कहना पड़ेगा कि अत्यापवादिक मामलों में ही ऐसी शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए।

इसके अलावा हमारा मत यह है कि यह सुनिश्चित करने की दृष्टि से कि बेईमान पिटीशनर इस उपबन्ध का दुरुपयोग न करें, अन्तिम आदेश लोक अभियोजक को सूचना देने के बाद ही किया जाना चाहिए। प्रारम्भिक आदेश को मात्र अन्तरिम आदेश होना चाहिए। इसके अलावा, सुसंगत धारा में यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि निदेश केवल अभिलिखित किए जाने वाले कारणों से और केवल तभी जारी किया जा सकता है, यदि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि ऐसा निदेश न्याय के हित में आवश्यक है।

---

(2) If such person is thereafter arrested without warrant by an officer in charge of a police station on which accusation, and is prepared either at the time of arrest or at any time while in the custody of such officer to give bail, he shall be released on bail; and if a Magistrate taking cognizance of such offence decides that a warrant should issue in the first instance against that person, he shall issue a bailable warrant in conformity with the direction of the Court under sub-section (1)."

यह उपबन्ध करना भी सुविधाजनक होगा कि अन्तरिम आदेश की तथा अन्तरिम आदेशों की सूचना पुलिस अधीक्षक को तुरन्त दी जाए ।"

1970 के विधेयक के प्रारूप का खण्ड 447, कतिपय उपान्तरणों सहित, अधिनियमित किया गया था और उसका स्थान दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 438 ने लिया, जिस धारा को हमने इस निर्णय के प्रारम्भ में ही प्रोद्धृत कर दिया है ।

7. धारा 438 जो सुविधा प्रदान करती है, वह साधारणतया 'अग्रिम जमानत' के रूप में निर्दिष्ट की जाती है, जो कि ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका उपयोग विधि आयोग ने अपनी 41वीं रिपोर्ट में किया था। न तो इस धारा में और न ही उसके पार्श्व टिप्पण में इस प्रकार वर्णित किया गया है, किन्तु 'अग्रिम जमानत' अभिव्यक्ति यह विचार व्यक्त करने का सुविधाजनक ढंग है कि गिरफ्तारी के पूर्वानुमान के आधार में जमानत के लिए आवेदन करना सम्भव है । निस्सन्देह, जमानत का कोई आदेश गिरफ्तारी के समय से ही प्रभावी हो सकता है, क्योंकि, जैसा कि वार्टन के लॉ लैक्सिकन में बताया गया है, जमानत देने का अर्थ गिरफ्तार किए गए या कारावासित किसी भी व्यक्ति को उसकी 'उपसंजाति के लिए ली गई प्रतिभूति के आधार पर स्वाधीन करना है' । इस प्रकार, जमानत आधारिक रूप से अवरोध से छोड़ा जाना या, अधिक विशिष्टतया, पुलिस की अभिरक्षा से छोड़ा जाना है । गिरफ्तारी के कार्य का प्रत्यक्ष प्रभाव पुलिस द्वारा गिरफ्तार किए गए व्यक्ति के संचलन के स्वातंत्र्य पर पड़ता है और यदि साधारण तौर से कहा जाए, तो जमानत का आदेश अभियुक्त को वह स्वातंत्र्य इस शर्त पर वापस करता है कि वह अपना विचारण कराने के लिए उपसंजात होगा । स्वीय मुचलका, प्रतिभूति-पत्र और अन्य ऐसी रीतियां, ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा अभियुक्त से यह आश्वासन प्राप्त किया जाता है कि यद्यपि उसे जमानत पर छोड़ दिया गया है, तथापि उस अपराध या उन अपराधों के, जिसका या जिनका आरोप उस पर लगाया गया है और जिससे या जिनके लिए वह गिरफ्तार किया गया था, विचारण के समय वह स्वयं उपस्थित रहेगा । जमानत के मामूली आदेश और अग्रिम जमानत के आदेश के बीच जो प्रभेद है, वह यह है कि जबकि पूर्वकथित गिरफ्तारी के बाद अनुदत्त किया जाता है और इसी कारण से उससे पुलिस की अभिरक्षा से निर्मुक्ति अभिप्रेत है, पश्चात्कथित गिरफ्तारी के पूर्वानुमान के आधार पर अनुदत्त किया जाता है और इसी कारण से गिरफ्तारी के समय से ही प्रभावशील हो जाता है । पुलिस अभिरक्षा अजमानतीय अपराधों के लिए

1980(4) eILR(PAT) SC 103

गिरफ्तारी की आवश्यक सहवर्ती है। यदि ऐसा कहा जाए, तो अग्रिम जमानत का आदेश ऐसे अपराध या अपराधों के लिए जिसके या जिनके सम्बन्ध में आदेश जारी किया जाता है, की गई गिरफ्तारी के पश्चात् पुलिस अभिरक्षा के विरुद्ध बीमा का काम करता है। अन्य शब्दों में, गिरफ्तारी के बाद जमानत के आदेश से भिन्न, वह गिरफ्तारी के पहले की ऐसी विधिक प्रक्रिया है जो यह निदेश देती है कि यदि वह व्यक्ति जिसके पक्ष में आदेश जारी किया गया है, इसके पश्चात् ऐसे अभियोग के आधार पर गिरफ्तार किया जाता है जिसके सम्बन्ध में निदेश दिया गया है, तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 46(1) में जिसमें इस बात के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है कि गिरफ्तारियां किस प्रकार से की जानी चाहिएं, यह उपबन्ध किया गया है कि गिरफ्तारी करने में "पुलिस अधिकारी या अन्य व्यक्ति, जो गिरफ्तारी कर रहा है, गिरफ्तार किए जाने वाले व्यक्ति के शरीर को वस्तुतः छुएगा या परिरुद्ध करेगा, जब तक कि उसने वचन या कर्म द्वारा अपने आप को अभिरक्षा में सुपुर्द न कर दिया हो।" धारा 438 के अधीन दिए गए निदेश का आशय इस प्रकार से छुए जाने या परिरुद्ध किए जाने से सशर्त उन्मुक्ति प्रदान करना है।

8. पुलिस पर कोई भी यह अभियोग नहीं लगा सकता है कि उसके पास इसे ठीक करने की शक्ति है और न वास्तव में पुलिस अभिरक्षा में की गई परिरुद्धि के परिणामस्वरूप मजबूरियों के सम्बन्ध में किसी को भी गलतफहमी ही है। किन्तु जहां तक कि दाण्डिक अन्वेषण के मामूली ढर्रे का सम्बन्ध है, समाज ने उन सभी बातों के सम्बन्ध में जो कि पुलिस द्वारा गिरफ्तार किए जाने के बाद होती हैं, कतिपय धैर्य के साथ स्वीकार कर लिया है या मौन सम्मति दी है। पुलिस के समक्ष लगाए गए आरोपों का अन्वेषण करना पुलिस का दैनिक प्रसामान्य कार्य है और मोटे तौर से तथा साधारणतः उन्हें मामूली अपराधियों को अनावश्यक रूप से तंग करके कुछ लाभ तो मिलता ही नहीं है, किसी भी स्थिति में उनके प्रति अनुकूल दृष्टि होने का तो प्रश्न ही नहीं है। किन्तु कभी-कभी अपराधों, अपराधियों और परिवादियों की भी असाधारण विशिष्टताएं हो सकती हैं। जबकि जीवन की शान्त धारा में गन्दगी आ जाती है, तो पुलिस से यह कहा जाता है कि वह राजनीतिक प्रतिद्वन्दिता के परिणामस्वरूप लगाए गए आरोपों की जांच करे। तब अपने परतर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दण्ड विधि की शक्तिशाली प्रक्रियाओं को उलट-पुलट दिया जाता है। जबकि पुलिस अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र के भीतर स्वतंत्र अभिकर्ता नहीं रहती है, तो ऐसे अन्वेषणों के परिणामस्वरूप काफी असुविधा,

परेशानी तथा अपमान होता है। वह सामान्य व्यक्ति को हथकड़ी लगाकर सड़क पर परेड करने का रूप धारण कर सकता है, जो कि आभासी रूप से न्यायालय की ओर ले जाने का प्रदर्शन-मात्र हो सकता है। बुरी बात उस समय की जाती है, जब कि किसी प्रतिद्वंदी को सामाजिक उपहास और बदनामी का पात्र बनाया जाता है और यह बात महत्वहीन रहती है। ऐसी कि दोषसिद्धि कब होती है या क्या वह कतई सम्भव है। ऐसी स्थितियों का मुकाबला करने की दृष्टि से ही, यद्यपि वे उन आकस्मिकताओं तक ही सीमित नहीं हैं, अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति 1973 की संहिता में पुरःस्थापित की गई है।

9. क्या हमारा यह कहना ठीक है कि 'अग्रिम-जमानत' अनुदत्त करने की, धारा 438 द्वारा प्रदत्त, शक्ति 'इन आकस्मिकताओं तक ही सीमित नहीं है'? वास्तव में पक्षकारों के बीच संविवाद के मुख्य मुद्दों में से वह एक है। जबकि श्री एम० सी० भण्डारे, श्री ओ० पी० शर्मा और अन्य विद्वान् काउन्सेलों ने जो कि अपीलार्थियों की ओर से उपस्थित हुए हैं, यह दलील दी है कि अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति सम्बन्धित न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ दी जानी चाहिए, जो कि प्रत्येक विशिष्ट मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर होगा, राज्य सरकार की ओर से विद्वान् अपर सालिसिटर जनरल ने यह दलील दी है कि अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की बात कम से कम इस शर्त के आधार पर होनी चाहिए कि आवेदक ने यह दर्शित कर दिया है कि परतर हेतु के कारण, उसका गिरफ्तार किया जाना सम्भाव्य है, अर्थात् यह कि प्रस्थापित आरोप प्रत्यक्षतः निराधार है या हैं और असद्भाव से प्रेरित है या हैं। यह दलील दी गई है कि अग्रिम जमानत असाधारण अध्युपाय है और इसी कारण जब कभी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्थापित अभियोग, प्रथमदृष्टया, तर्कसंगत हैं, तो आवेदक को गिरफ्तार किए जाने के बाद, उसे दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 437 या धारा 439 के अधीन जमानत के लिए आवेदन करने के मामूली अध्युपाय का लाभ उठाने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए।

10. कुछ अपीलार्थियों की ओर से उपस्थित होते हुए तथा अन्य अपीलार्थियों की दलीलों का समर्थन करते हुए श्री वी० एम० तारकुण्डे ने यह मत व्यक्त किया कि चूंकि जमानत से इनकार करना दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने की कोटि में आता है, इसलिए न्यायालयों को धारा 438 के विस्तार पर अनावश्यक निर्बन्धन अधिरोपित करने के विरुद्ध अपना मत देना चाहिए, जबकि उस धारा के निबन्धनों के अनुसार विधानमण्डल ने ऐसे कोई

भी निबंधन अधिरोपित नहीं किए हैं। विद्वान् काउन्सेल ने संविधान के अनुच्छेद 21 के लागू होने की बात पर ज़ोर देते हुए अपनी दलील को नया आयाम दिया। उसने इस बात पर और ज़ोर दिया कि धारा 438 ऐसा प्रक्रियात्मक उपबन्ध है जिसका संबंध ऐसे व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता से है जिसे ऐसे अपराध के लिए दोषसिद्ध नहीं किया गया है जिसके संबंध में वह जमानत प्राप्त करने की ईप्सा करता है और जिसकी बाबत इसी कारण से यह अवश्य ही उपधारणा की जानी चाहिए कि वह निर्दोष है। अतः उस धारा की विधिमान्यता की परीक्षा ऐसे न्यायौचित्य और युक्तियुक्तता की कसौटी पर की जानी चाहिए जो कि अनुच्छेद 21 में विवक्षित है। यदि स्वयं विधानमण्डल अग्रिम जमानत अनुदत्त करने पर अयुक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित करता, तो ऐसा निर्बन्धन इस आधार पर अभिखण्डित कर दिया जा सकता था कि उससे अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण होता है। अतः धारा 438 के विस्तार का अवधारण करते हुए, न्यायालय को यह चाहिए कि वह अग्रिम जमानत का आदेश अभिप्राप्त करने विषयक किसी व्यक्ति के अधिकार पर अनुचित या अयुक्तियुक्त कोई भी परिसीमा अधिरोपित न करे। विद्वान् काउन्सेल के मतानुसार, अनुचित या अयुक्तियुक्त परिसीमा के अधिरोपण से इस बात का विचार किए बिना कि क्या वह विधायन द्वारा या न्यायिक विनिश्चय द्वारा अधिरोपित किया गया है, अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण होगा।

11. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने उन सभी बातों को संक्षेप में इस प्रकार बताने के बाद, जो कि उसके मतानुसार वास्तविक विधिक स्थिति है, जमानत के लिए प्रस्तुत अपीलार्थियों के आवेदन अस्वीकृत कर दिए—

(1) दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 438 के अधीन जो शक्ति है, वह असाधारण स्वरूप की है और उसका प्रयोग केवल आपवादिक मामलों में बहुत ही कम किया जाना चाहिए।

(2) न तो धारा 438 और न ही संहिता का कोई अन्य उपबंध ऐसे अपराधों के लिए जो कि अभी न किए गए हों या ऐसे अभियोगों के संबंध में जो कि अभी तक न लगाए गए हों, सर्वग्राही अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए प्राधिकृत करती है।

(3) उक्त शक्ति अनियंत्रित या इच्छित दिशा में मोड़ने वाली नहीं है, किन्तु पूर्ववर्ती धारा 437 में अधिरोपित सभी परिसीमाएं

1980(4) GLR(PAT) SC 103

उसमें विवक्षित हैं और उनकी बाबत यह समझा जाना चाहिए कि वे धारा 438 पर अधिरोपित होती हैं।

(4) धारा 437 में उल्लिखित परिसीमाओं के अलावा पिटीशनर को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति के प्रयोग के लिए विशेष मामला बनाना चाहिए।

(5) जहां कि धारा 167(2) के अधीन किसी अपराधी के पुलिस अभिरक्षा में रिमाण्ड के लिए किसी अन्वेषण करने वाले अधिकरण द्वारा वैध मामला बनाया जा सकता हो या ऐसी इत्तिला से जो कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 के अधीन अपराधी से प्राप्त होना सम्भाव्य हो, अभिशंसी सामग्री प्राप्त करने का युक्तियुक्त दावा पेश किया जा सकता हो, वहां धारा 438 के अधीन शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(6) धारा 438 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग उन अपराधों के संबंध में जो कि मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय हों, तब तक नहीं किया जा सकता है जब तक कि उस प्रक्रम में न्यायालय का यह समाधान न हो गया हो कि ऐसा आरोप मिथ्या या निराधार प्रतीत होता है।

(7) यह जनता और राज्य के व्यापक हित में है कि आर्थिक अपराधों जैसे गम्भीर मामलों में जिनमें कार्यपालक और राजनीतिक शक्ति के उच्च स्तर पर अत्यधिक भ्रष्टाचार अन्तर्ग्रस्त हो, संहिता की धारा 438 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(8) पिटीशन में असद्भाव सम्बन्धी साधारण अभिकथन मात्र अपर्याप्त होते हैं। न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर उसका यह समाधान अवश्य ही हो जाना चाहिए कि असद्भाव से सम्बन्धित अभिकथन सारवान हैं और अभियोग मिथ्या तथा निराधार प्रतीत होता है।

पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष इस बात पर जोर दिया गया कि अपीलार्थी सम्पन्न और अच्छी स्थिति वाले लोग हैं जिनका फरार होना सम्भाव्य नहीं है और वे विचारण में उपस्थित होने के लिए स्वेच्छया से तैयार होंगे। यह दलील इस मत के साथ अस्वीकृत कर दी गई कि उनकी हैसियत के कारण अपीलार्थियों के साथ विभेदक व्यवहार करना विधि के समक्ष समता की संकलपना के

अस्वीकरण की कोटि में आएगा और यह कि यह दलील नहीं दी जा सकती कि हैसियत वाला प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिस पर गम्भीर अपराध करने का ऐसा आरोप जिसके अन्तर्गत धारा 409 के अधीन आरोप शामिल है, जो कि आजीवन कारावास से दण्डनीय है, लगाने का आशय था, अग्रिम जमानत के लिए न्यायालय का दरवाज़ा खटखटाने का हकदार था। पूर्ण न्यायपीठ के मतानुसार उच्च हैसियत का रखना अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए न केवल असंगत बात है, बल्कि यदि कोई हो तो, वह बिगाड़ने वाली परिस्थिति है।

12. हम विद्वान् अपर सालिसिटर जनरल की सम्पूर्ण दलीलों को या उन निर्बन्धनों को जो कि उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने धारा 438 द्वारा प्रदत्त शक्ति पर अधिरोपित किए हैं, स्वीकार करने में असमर्थ हैं। धारा 438 के खण्ड (1) में विस्तृत तथा अविशेषित शब्दों का प्रयोग किया गया है। अर्थान्वयन के किसी भी ज्ञात सिद्धान्त के आधार पर, विस्तार तथा आयाम वाले शब्दों को साधारणत: इस प्रकार नहीं संकुचित कर दिया जाना चाहिए जिससे कि कानून की भाषा से ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों के होने के बारे में अर्थ लगाया जा सके जिसे विधानमण्डल ने स्वयं ही अधिरोपित करना न तो उचित समझा था और न ही आवश्यक। विशेष रूप से यह बात तब सच है जबकि कानून के ऐसे उपबंध का उद्देश्य जिस पर विचार किया जाना है, दैहिक स्वाधीनता के अधिकार जैसे मूल्यवान् अधिकार को प्राप्त करना है और जिसमें ऐसी उपधारणा लागू करने की बात अन्तर्ग्रस्त है जो कि हमारे दण्ड-न्यायशास्त्र में उतना ही श्रेयस्कर है और जिसकी जड़ें उतनी ही गहरी हैं जितनी कि निर्दोषिता से सम्बन्धित उपधारणा। यद्यपि अग्रिम जमानत के लिए आवेदन करने का अधिकार प्रथम बार धारा 438 द्वारा प्रदत्त किया गया था, तथापि विधानमण्डल ने उस उपबंध को अधिनियमित करके इस अर्थ में कि उसने अभूतपूर्व कदम नहीं उठाया है, वहां तक कोई नई बात नहीं की थी, जहां तक कि जमानत के लिए आवेदन करने के अधिकार का सम्बन्ध है। उसके समक्ष संहिता के समान प्रभाव के दो उपबंध मौजूद थे : धारा 437 जिसमें अजमानतीय मामलों में जमानत अनुदत्त करने सम्बन्धी सेशन न्यायालय और उच्च न्यायालय से भिन्न अन्य न्यायालयों की शक्ति के बारे में उपबंध किया गया है और धारा 439 जिसमें जमानत के बारे में उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय की "विशेष शक्ति" के बारे में उपबंध किया गया है। धारा 437 जमानत अनुदत्त करने के लिए कतिपय न्यायालयों की शक्ति पर निर्बन्धनों से पूरी तरह से भरी पड़ी है। वह धारा इस प्रकार से है—

437. अजमानतीय अपराध की दशा में कब जमानत ली जा सकेगी। (1) जब कोई व्यक्ति, जिस पर अजमानतीय अपराध का अभियोग है, या जिस पर यह संदेह है कि उसने अजमानतीय अपराध किया है, पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी द्वारा वारण्ट के बिना गिरफ्तार या निरुद्ध किया जाना है या उच्च न्यायालय अथवा सेशन न्यायालय से भिन्न न्यायालय के समक्ष हाजिर होता है या लाया जाता है, तब वह जमानत पर छोड़ा जा सकता है, किन्तु यदि यह विश्वास करने के लिए उचित आधार प्रतीत होते हैं कि वह मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी है, तो वह ऐसे न छोड़ा जाएगा।

परन्तु न्यायालय निदेश दे सकता है कि कोई व्यक्ति, जो सोलह वर्ष से कम आयु का है, या कोई स्त्री या कोई रोगी या शिथिलांग व्यक्ति, जो ऐसे अपराध का अभियुक्त है, जमानत पर छोड़ दिया जाए :

परन्तु यह और कि केवल यह बात कि अभियुक्त की अन्वेषण में साक्षियों द्वारा पहचाने जाने के लिए आवश्यकता हो सकती है, जमानत देने से इनकार करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं होगी, यदि वह अन्यथा जमानत पर छोड़ दिए जाने के लिए हकदार है और यह वचन देता है कि वह ऐसे निदेशों का, जो न्यायालय द्वारा दिए जाएं अनुपालन करेगा।

(2) यदि ऐसे अधिकारी या न्यायालय को, यथास्थिति, अन्वेषण, जांच या विचारण के किसी प्रक्रम में यह प्रतीत होता है कि यह विश्वास करने के लिए उचित आधार नहीं है कि अभियुक्त ने अजमानतीय अपराध किया है किन्तु उसके दोषी होने के बारे में और जांच करने के लिए पर्याप्त आधार हैं, तो अभियुक्त ऐसी जांच लम्बित रहने तक जमानत पर, या ऐसे अधिकारी या न्यायालय के स्वविवेकानुसार, इसमें इसके पश्चात् उपबन्धित प्रकार से अपने हाजिर होने के लिए प्रतिभुओं रहित बन्धपत्र निष्पादित करने पर, छोड़ दिया जाएगा।

(3) जब कोई व्यक्ति जिस पर कारावास से, जिसकी अवधि सात वर्ष तक की या उससे अधिक की है, दण्डनीय कोई अपराध या भारतीय दण्ड संहिता के अध्याय 6, अध्याय 16 या अध्याय 17 के

अधीन कोई अपराध करने या ऐसे किसी अपराध का दुष्प्रेरण, या षड्यंत्र या प्रयत्न करने का अभियोग या संदेह है, उपधारा (1) के अधीन जमानत पर छोड़ा जाता है तो न्यायालय—

(क) यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसा व्यक्ति इस अध्याय के अधीन निष्पादित बन्धपत्र की शर्तों के अनुसार हाजिर होगा, अथवा

(ख) यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसा व्यक्ति उस अपराध जैसा, जिसको करने का उस पर अभियोग या संदेह है, कोई अपराध नहीं करेगा, अथवा

(ग) अन्यथा न्याय के हित में,

ऐसी कोई भी शर्त, जिसे न्यायालय आवश्यक समझे, अधिरोपित कर सकता है।

(4) उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन जमानत पर किसी व्यक्ति को छोड़ने वाला अधिकारी या न्यायालय ऐसा करने के अपने कारणों को लेखबद्ध करेगा।

(5) यदि कोई न्यायालय, जिसने किसी व्यक्ति को उपधारा (1) या उपधारा (2) के अधीन जमानत पर छोड़ा है, ऐसा करना आवश्यक समझता है, तो ऐसे व्यक्ति को गिरफ़्तार करने का निदेश दे सकता है और उसे अभिरक्षा के लिए सुपुर्द कर सकता है।

(6) यदि मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय किसी मामले में ऐसे व्यक्ति का विचारण, जो किसी अजमानतीय अपराध का अभियुक्त है, उस मामले में साक्ष्य लेने के लिए नियत प्रथम तारीख से साठ दिन की अवधि के अन्दर पूरा नहीं हो जाता है तो, यदि ऐसा व्यक्ति उक्त सम्पूर्ण अवधि के दौरान अभिरक्षा में रहा है तो, जब तक ऐसे कारणों से जो लेखबद्ध किए जाएंगे, मजिस्ट्रेट अन्यथा निदेश न दे, वह मजिस्ट्रेट के समाधान पर जमानत पर छोड़ दिया जाएगा।

(7) यदि अजमानतीय अपराध के अयुक्तियुक्त व्यक्ति के विचारण के समाप्त हो जाने के पश्चात् और निर्णय दिए जाने के पूर्व किसी समय न्यायालय की यह राय है कि यह विश्वास करने के उचित आधार हैं कि अभियुक्त किसी ऐसे अपराध का दोषी नहीं है

और अभियुक्त अभिरक्षा में है, तो वह अभियुक्त को, निर्णय सुनने के लिए अपने हाजिर होने के लिए, प्रतिभुओं रहित, बन्धपत्र उसके द्वारा निष्पादित किए जाने पर छोड़ देगा।"

धारा 439(1)(क) में, धारा 437(3) में उल्लिखित शर्तें समाविष्ट की गई हैं, यदि ऐसा अपराध जिसके संबंध में जमानत की ईप्सा की गई है, उस उपधारा में विनिर्दिष्ट प्रकृति का है। धारा 439 इस प्रकार से है—

"439. जमानत के बारे में उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय की विशेष शक्तियां : (1) उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय यह निदेश दे सकता है कि—

(क) किसी ऐसे व्यक्ति को, जिस पर किसी अपराध का अभियोग है और जो अभिरक्षा में है, जमानत पर छोड़ दिया जाए और यदि अपराध धारा 437 की उपधारा (3) में विनिर्दिष्ट प्रकार का है, तो वह ऐसी कोई शर्त जिसे वह उस उपधारा में वर्णित प्रयोजनों के लिए आवश्यक समझे, अधिरोपित कर सकता है।

(ख) किसी व्यक्ति को जमानत पर छोड़ने के समय मजिस्ट्रेट द्वारा अधिरोपित कोई शर्त अपास्त या उपांतरित कर दी जाए :

परन्तु उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय किसी ऐसे व्यक्ति की, जो ऐसे अपराध का अभियुक्त है जो अनन्यतः सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय है, या जो, यद्यपि इस प्रकार विचारणीय नहीं है, आजीवन कारावास से दण्डनीय है, जमानत लेने के पूर्व जमानत के लिए आवेदन की सूचना लोक अभियोजक को उस दशा के सिवाय देगा जब उसकी, ऐसे कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएंगे, यह राय है कि ऐसी सूचना देना साध्य नहीं है।

(2) उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय, किसी ऐसे व्यक्ति को, जिसे इस अध्याय के अधीन जमानत पर छोड़ा जा चुका है, गिरफ्तार करने का निदेश दे सकता है और उसे अभिरक्षा के लिए सुपुर्द कर सकता है।"

जबकि विधानमण्डल धारा 438 का अधिनियमन कर रहा था, उस समय धारा 437 और 439 के उपबन्धों ने उसके लिए सुविधाजनक नमूना प्रस्तुत किया था। यदि उसने ऐसा किया है और उस पैटर्न से विचलित हुआ है जो कि आवश्यक उपांतरणों सहित सरलता के साथ अंगीकार किया जा सकता

था, तो यह उपधारणा करके कि उससे कोई विशिष्ट या विनिर्दिष्ट प्रयोजन सिद्ध करना आशयित नहीं था, विचलन को पूर्ण प्रभाव देने से इनकार करना गलत होगा। हमारी राय में वह विचलन श्रेयस्कर रूप से तथा सप्रयोजन किया गया था : वह विधि आयोग की 41वीं रिपोर्ट के कारण कम से कम भागतः श्रेयस्कर था, जिसने, उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने में समर्थ बनाते हुए संहिता में उपबन्ध पुरःस्थापित करने की आवश्यकता बताते हुए पैरा 39.9 में यह मत व्यक्त किया था कि "हमने कानून में कतिपय शर्तें जिनके अधीन ही अग्रिम जमानत अनुदत्त की जा सकती है, अधिकथित करने के प्रश्न पर सावधानी के साथ विचार किया था" किन्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ऐसी जमानत अनुदत्त करने का प्रश्न "न्यायालय के विवेक पर" छोड़ दिया जाना चाहिए और स्वयं कानूनी उपबन्ध द्वारा उसे नियंत्रित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि विवेकाधिकार वरिष्ठ न्यायालयों को प्रदत्त किया जा रहा था जिनसे उसका न्यायिक रूप से प्रयोग करना प्रत्याशित था। विधानमण्डल ने उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के सम्बन्ध में विस्तृत विवेकाधिकार प्रदत्त किया था, क्योंकि उसने स्पष्ट रूप से, प्रथमतः, यह महसूस किया था कि उन शर्तों को जिनके अधीन अग्रिम जमानत अनुदत्त की जानी चाहिए या नहीं की जानी चाहिए, प्रमाणित करना कठिन होगा और द्वितीयतः क्योंकि आशय अग्रिम जमानत की प्रकृति में अनुतोष अनुदत्त करने में सोपानक में उच्चतर न्यायालयों को कुछ स्वतन्त्रता देना था। यही कारण है कि धारा 437 और 439 के पदों से विचलन करते हुए धारा 438(1) में इस भाषा का उपयोग किया गया है कि यदि उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय "ठीक समझे, तो" वह यह निदेश दे सकता है कि आवेदक को जमानत पर छोड़ दिया जाए। धारा 438 की उपधारा (2) अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की विस्तृत वैवेकिक शक्ति प्रदत्त करने के उसी विधायी आशय का और आगे तथा अधिक स्पष्ट प्रकटन है। उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए निदेश जारी करते हुए, "उस विशिष्ट मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन निदेशों में ऐसी शर्तें जो वह ठीक समझे, सम्मिलित कर सकता है" जिनके अन्तर्गत ऐसी शर्तें भी हैं जो कि उपधारा (2) के खण्ड (i) से (iv) तक में उपवर्णित हैं। विधायी आशय का सबूत सबसे अच्छे ढंग से उस भाषा में मिल सकता है जिसका उपयोग विधानमण्डल करता है। बाह्य सहायता से अस्पष्टताओं को निस्सन्देह स्पष्ट किया जा सकता है, किन्तु उन शब्दों को जो कि उतने विस्तृत

और विवक्षित हैं जितने कि धारा 438 में प्रयुक्त किए गए हैं, पूरी तरह विशेषकर तब प्रभावी बनाया जब कि ऐसा करने से इन्कार करने के परिणामस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता का तथा निर्दोषता की उपधारणा का असम्यक् रूप से हनन होगा। यह बात ध्यान में रखनी है कि अग्रिम जमानत की ईप्सा केवल तभी की जाती है जब कि इस अभियोग के आधार पर कि आवेदक ने अजमानतीय अपराध किया है, गिरफ्तारी की आशंका मात्र हो। ऐसा व्यक्ति जिसे गिरफ्तार करने के कारण अपनी स्वतन्त्रता खो देनी है, गिरफ्तारी की स्थिति में स्वतन्त्रता की मांग करता है। यही वह प्रक्रम है जिसमें उसकी स्वतन्त्रता की संरक्षा करना वहां तक आवश्यक होता है जहां तक कि किया जा सके, और इस उपधारणा को कि वह निर्दोष है, अपनी पूरी भूमिका अदा करनी आवश्यक होती है। वास्तव में जिस प्रक्रम में अग्रिम जमानत की ईप्सा साधारण रूप से की जाती है, उसके परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति से समरूपता प्रकट होती है जिसमें कोई व्यक्ति जिसे अजमानतीय अपराध के कारण गिरफ्तार किया जाता है, जमानत की मांग करता है। पश्चात्कथित स्थिति में, न्यायालय के लिए पर्याप्त आंकड़े उपलभ्य होते हैं या वह उन्हें मंगा सकता है जिनकी रोशनी में वह अनुतोष अनुदत्त कर सकता है या उससे इनकार कर सकता है और उसे अनुदत्त करते हुए धारा 437 में उल्लिखित सभी शर्तों या उनमें से किसी का अधिरोपण करके उसे उपांतरित कर सकता है।

13. कहने का अर्थ यह नहीं है कि यदि अग्रिम जमानत अनुदत्त की जाती है, तो उसे, कोई शर्तें अधिरोपित किए बिना, अनुदत्त किया जाना चाहिए। वह धारा 438 के पदों के ही स्पष्टतः विरुद्ध होगा। यद्यपि उस धारा की उपधारा (1) में यह कहा गया है कि यदि "वह न्यायालय ठीक समझे, तो वह जमानत के लिए आवश्यक निदेश दे सकता है", तथापि उपधारा (2) न्यायालय को निदेश में ऐसी शर्तें शामिल करने की शक्ति देती है जैसी कि वह किसी विशिष्ट मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ठीक समझे, जिसके अन्तर्गत उस उपधारा के खण्ड (i) से लेकर (iv) तक में उल्लिखित शर्तें भी शामिल हैं। अतः संविवाद इस सम्बन्ध में नहीं है कि क्या न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करते समय शर्तें अधिरोपित करने की शक्ति है। वह स्पष्ट रूप से और अभिव्यक्त रूप से ऐसी शक्ति देती है। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या अर्थान्वयन की प्रक्रिया द्वारा न्यायिक विवेकाधिकार के आयाम को जो कि उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को ऐसी शर्तें अधिरोपित करने के लिए दिया गया है, जैसी कि वह अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के समय ठीक समझे, कानून में दी गई ऐसी शर्तें जो उसमें मौजूद न हों, मौजूद होने सम्बन्धी अर्थान्वयन करके सीमित किया जाना चाहिए, जैसे

कि वे शर्तें जिन्हें उच्च न्यायालय ने निश्चित की हैं, या जिनकी बाबत विद्वान अपर सालिसिटर जनरल ने विवाद उठाया है, हमारा उत्तर, स्पष्ट रूप से और ज़ोर देकर, नकारात्मक है। उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को जिसको अग्रिम जमानत से सम्बन्धित आवेदन किया जाता है, जमानत अनुदत्त करने के लिए अपने न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए, यदि वे मामले के विशिष्ट तथ्यों के आधार पर और परिस्थितियों में तथा ऐसी शर्तों पर जैसी कि उस मामले में उचित हो, ऐसा करना ठीक समझे। उसी प्रकार से यदि उस मामले की परिस्थितियों में ऐसा करना न्यायोचित हो, तो उन्हें धारा 437 में उल्लिखित बातों के समरूप बातों के आधार पर या उनके आधार पर जो उस संहिता की धारा 439 के अधीन साधारण रूप से सुसंगत मानी जाती हैं, जमानत देने से इन्कार करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए।

14. [उन विषयों के सम्बन्ध में जो कि विवेकाधिकार पर निर्भर होते हैं, साधारणीकरण से तथा व्यापक रूप से लागू करने के लिए आवश्यक फार्मूले की तब खोज करने की कोशिश से जबकि एक मामले से दूसरे मामले के तथ्यों का भिन्न होना निश्चित है, विवेकाधिकार प्रदत्त करने के प्रयोजन में बाधा उत्पन्न होती है। तथ्यों के आधार पर दो मामले समान नहीं होते और इसी कारण से, यदि वैवेकिक शक्ति के प्रदत्त करने को अर्थपूर्ण होना है, तो, न्यायालयों को ऐसे संयोजन में कुछ स्वतन्त्रता देनी चाहिए। अग्रिम जमानत अनुदत्त करने में सेशन न्यायालय और उच्च न्यायालय को विस्तृत विवेकाधिकार देने में कोई भी जोखिम अन्तर्वलित नहीं है, क्योंकि प्रथमतः वे ऐसे उच्चतर न्यायालय हैं जिनमें अनुभवी व्यक्ति काम करते हैं, द्वितीयतः, उनके आदेश अन्तिम नहीं होते, किन्तु उनकी अपीली या पुनरीक्षणात्मक समीक्षा की जा सकती है और इन सबके अलावा इसलिए भी क्योंकि न्यायालयों द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायिक रूप से, न कि खब्त, सनक या अटकल के आधार किया जाता है। दूसरी ओर, ऐसे मामलों के प्रवर्गों को पुरोबन्धित करने में जोखिम है, जिनमें अग्रिम जमानत इसलिए अनुज्ञात की जा सकती है, क्योंकि जीवन में अप्रत्याशित सम्भावनाएं होती हैं और नई-नई चुनौतियां सामने आती हैं। न्यायिक विवेकाधिकार को इतना स्वतन्त्र होना चाहिए जिससे कि इन सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर कार्य किया जा सके और इन चुनौतियों का सामना किया जा सके। साधारण रूप से लागू किए जाने वाले नियमों द्वारा अबाधित न्यायिक विवेकाधिकार को परिरक्षित करने की जो आवश्यकता होती है, उसके सम्बन्ध में मत व्यक्त

करते हुए लार्ड चांसलर अर्ल लौरबर्न ने हाईमन और अन्य बनाम रोज[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था—

"प्रथमतः मैं यह बताना चाहता हूं कि इस धारा द्वारा प्रदत्त विवेकाधिकार बहुत ही विस्तृत है अब मुझे यह प्रतीत होता है कि जबकि इस अधिनियम में विस्तृत विवेकाधिकार की बाबत इतना अभिव्यक्त उपबन्ध किया गया है......, तो उस विवेकाधिकार को नियंत्रित करने के लिए किन्हीं कठोर नियमों को अधिकथित करना श्रेयस्कर नहीं है। मुझे इस बारे में सन्देह नहीं है कि प्रस्तुत मामले में मास्टर ऑफ रॉल्स ने जो नियम प्रतिपादित किए हैं, वे साधारणतः उपयोगी उक्तियां हैं और साधारणतः उनमें वह दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होता है जिससे न्यायाधीश अनुतोष के लिए किए गए आवेदन पर विचार करें। किन्तु मैं समझता हूं कि स्पष्ट रूप से यह बात समझ ली जानी चाहिए कि ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें उनमें से किसी या सभी की उपेक्षा की जा सकती है। यदि यह बात अन्यथा होगी, तो कानून द्वारा निर्बाध रूप से दिया गया विवेकाधिकार उन परिसीमाओं द्वारा बाधित होगा, जो कि कहीं भी अधिनियमित नहीं की गई हैं। पार्लियामेंट के ऐक्ट में अन्तर्विष्ट भाषा का वास्तविक अर्थ को विनिश्चित करना एक बात है। जहां कि शर्तें कानूनी अधिनियमिति पर बिल्कुल ही आधारित हैं, वहां न्यायालय को कानून द्वारा सौंपे गए निर्बाध विवेकाधिकार पर शर्तें अधिरोपित करना बिल्कुल ही भिन्न बात है। मैं समझता हूं कि यह कहना खतरे से खाली नहीं है कि न्यायालय को ऐसी कतिपय बातों पर सदैव जोर देना चाहिए और वह इन पर सदैव जोर देगा कि जब अधिनियम के अधीन उनकी अपेक्षा नहीं होती है और किसी अप्रत्याशित मामले के तथ्यों के कारण न्यायालय यह चाहे कि क्या ही अच्छा होता यदि उसे स्वतन्त्रता से काम करने दिया जाता।"

15. न्यायाधीशों को ऐसे मामले जो कि उनके समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं, अपने विनिश्चयों में अपनी निजी भावनाओं और पूर्वधारणाओं से प्रभावित न होने की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए, विनिश्चित करने होते हैं। और यदि, हम न्यायिक कौशल और तकनीकों का उपयोग करके, ऐसा फार्मूला निकाल कर जो कि अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति को कठोर

---

[1] एल० आर० (1912) ए० सी० 623.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

सीमाओं के भीतर सीमित कर देगा तो यह विचित्र होगा। न्यायालयों को इतनी बुद्धिमानी के साथ प्रदत्त विवेकाधिकार को कम कर देंगे, अग्रिम जमानत अनुदत्त करने जैसे विषय में निश्चित नियम अधिकथित करते हुए, जैसा कि उच्च न्यायालय ने किया है, इस बात को नजरअन्दाज करना सम्भाव्य है कि न्यायाधीशों को भी नई स्थितियों की आवश्यकताओं के विषय में अपूर्ण जानकारी हो सकती है। जीवन कभी भी स्थिर नहीं रहता है और प्रत्येक स्थिति का जायजा उत्पन्न होने वाली उन परेशानियों के संदर्भ में लेना होता है जब कभी भी वे सामने आती हैं। अतः यदि हमें 'अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की संहिता' विरचित करनी होती, जो कि वास्तव में विधान-मण्डल का काम है, तो भी उसके कारण अधिक से अधिक, मोटी-मोटी मार्गदर्शक बातें ही प्रस्तुत की जा सकतीं और वह आंख मूंदकर स्वीकार करने के लिए विवश न कर सकती। किस मामले में जमानत अनुदत्त की जाए और किस मामले में ऐसा करने से इनकार किया जाए, जैसी कि स्वाभाविक स्थिति है, उसको देखते हुए यह विवेकाधिकार का विषय है, किन्तु इस तथ्य के अलावा कि यह प्रश्न अन्तर्निहित रूप से इस प्रकार का है जिसकी बाबत प्रत्येक मामले में विवेकाधिकार का उपयोग करने की आवश्यकता है विधान-मण्डल ने अभिव्यक्त पदों में यह उपबन्ध करके कि न्यायालय उस दशा में जमानत दे सकता है 'यदि वह ठीक समझे', उस प्रश्न के विनिश्चय को उसके विवेक पर छोड़ दिया था। न्यायालयों का सम्बन्ध साधारण रूप से, उनका दुरुपयोग करने के अभिप्राय बिना अपने विवेकाधिकार को परिरक्षित करना है। यदि हम विधि द्वारा न्यायालयों को प्रदत्त विवेकाधिकार को निष्प्रभाव करने की बात सोचते हैं, तो यह विचित्र ही होगा।

16. उच्च न्यायालय द्वारा निर्मित आठ-सूत्री संहिता में जो नियम हैं, उनमें से कुछ पर बारीकी के साथ देखने से यह पता चलेगा कि व्यवहार में उन्हें लागू करना कितना कठिन है। सातवें प्रतिपादना में यह कहा गया है—

> "यह जनता और राज्य के व्यापक हित में है कि आर्थिक अपराधों जैसे गम्भीर मामलों में जिनमें कार्यपालक और राजनीतिक शक्ति के उच्च स्तर पर अत्यधिक भ्रष्टचार अन्तर्गस्त हो, संहिता की धारा 438 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।"

17. यदि न्यायालय के पास ज्ञान-चक्षु हो, तो भी वह अग्रिम जमानत के प्रक्रम में ही भ्रष्टाचार की स्पष्टता का जायजा किस प्रकार ले सकता है? और क्या यह कहना सही होगा कि अभियोग की स्पष्टता जमानत अस्वीकृत करने के लिए तब भी पर्याप्त होगी, भले ही अपीलार्थी के आचरण के बारे में

1980(4) eILR(PAT) SC 103

अस्पष्ट रूप से यह क्यों न दर्शित किया जाए कि वह सही है ? उच्च न्यायालय द्वारा विरचित आठवें प्रतिपादन में यह कहा गया है—

> "पिटीशन में असद्भाव सम्बन्धी साधारण अभिकथन मात्र अपर्याप्त होते हैं। न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर उसका यह समाधान अवश्य ही हो जाना चाहिए कि असद्भाव से सम्बन्धित अभिकथन सारवान् है और अभियोग मिथ्या तथा निराधार प्रतीत होता है।"

क्या इस नियम से यह अभिप्रेत है और विद्वान् अपर सालिसिटर जनरल की दलील भी यही है कि अग्रिम जमानत तब तक अनुदत्त नहीं की जा सकती है, जब तक कि यह अभिकथित न किया जाए (और स्वभावतः यह भी दर्शित न कर दिया जाए, क्योंकि मात्र अभिकथन कभी भी पर्याप्त नहीं होता है) कि प्रस्थापित अभियोग असद्भावपूर्ण हैं ? यह बात समक्ष में आने वाली है कि यदि असद्भाव मौजूद होने की बात दर्शित कर दी जाए, तो अधिकांश मामलों में अग्रिम जमानत अनुदत्त की जानी चाहिए। किन्तु यह समझना सरल नहीं है कि अग्रिम जमानत के लिए किए गए आवेदन को तब तक क्यों अस्वीकृत किया जाना चाहिए जब तक कि अभियोग की बाबत यह दर्शित न कर दिया जाए कि वह असद्भावपूर्ण है। वस्तुतः न्यायिक अर्थान्वयन द्वारा नियम विरचित करने में यही जोखिम अन्तर्वलित है। अतः विवेकाधिकार के क्षेत्र में विवेकाधिकार को बने रहने दिया जाना चाहिए, जिसका प्रयोग वस्तुपरक रूप से किया जाना चाहिए और जिसे उच्च न्यायालय को सही करने का अधिकार होना चाहिए। वैवेकिक शक्ति की सुरक्षा इस दोहरी संरक्षा में है जिसमें उसके दुरुपयोग के विरुद्ध रक्षोपाय मौजूद हैं।

18. उच्च न्यायालय द्वारा विरचित छठे प्रतिपादन के अनुसार, धारा 438 के अधीन विवेकाधिकार का प्रयोग उन अपराधों के सम्बन्ध में जो कि मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय हों, तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उस प्रक्रम में न्यायालय का यह समाधान न हो गया हो कि ऐसा आरोप मिथ्या या निराधार प्रतीत होता है। धारा 438 उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति उस दशा में प्रदत्त करती है, यदि आवेदक के पास यह विश्वास करने का कारण है कि उसे "अजमानतीय अपराध" के किए जाने के अभियोग के आधार पर गिरफ्तार किया जा सकता है। इस उपबन्ध में उन शर्तों के मौजूद होने सम्बन्धी अर्थान्वयन के लिए हमें कोई भी औचित्य दिखाई नहीं पड़ता है जिनके

अध्यधीन रहते हुए संहिता की धारा 437(1) के अधीन जमानत अनुदत्त की जा सकती है। अजमानतीय अपराधों के सम्बन्ध में जमानत अनुदत्त करने की शक्ति प्रदत्त करते हुए उस धारा में अपवाद के तौर पर यह उपबन्ध किया गया है कि ऐसा व्यक्ति जिस पर अजमानतीय अपराध का अभियोग है या जिस पर यह सन्देह है कि उसने अजमानतीय अपराध किया है, उस दशा में "ऐसे न छोड़ा जाएगा" यदि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार प्रतीत होता है कि वह मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी है। यदि यह आशय था कि धारा 437(1) में अन्तर्विष्ट अपवाद धारा 438(1) के अधीन दिए जाने वाले अनुतोष के अनुदान को लागू होना चाहिए, तो पश्चात्कथित धारा में समरूप उपबन्ध के पुरःस्थापित करने की अपेक्षा विधानमण्डल के लिए और अधिक सरल बात कोई न होती। हमने उन दोनों धाराओं के बीच के आधारिक प्रभेद के बारे में पहले ही बता दिया है। धारा 437 ऐसे व्यक्ति को केवल तभी लागू होती है जबकि ऐसे व्यक्ति को जिसकी बाबत यह अभिकथित किया गया है कि उसने अजमानतीय अपराध किया है, वारण्ट के बिना गिरफ्तार किया जाता है या निरुद्ध किया जाता है या वह न्यायालय के समक्ष हाजिर होता है या लाया जाता है। धारा 438 गिरफ्तारी की जाने के पहले लागू होती है और वास्तव में उसके लागू होने की पूर्व-शर्तों में से एक शर्त यह है कि ऐसे व्यक्ति को जो, कि उसके अधीन अनुतोष प्राप्त करने के लिए आवेदन करता है, यह दर्शित करने में समर्थ होना चाहिए कि उसके पास यह विश्वास करने का कारण है कि "उसे गिरफ्तार किया जा सकता है" जिससे स्पष्ट रूप से यह अभिप्रेत है कि उसे अभी तक गिरफ्तार नहीं किया गया है। जमानत के अनुदत्त किए जाने से या इनकार किए जाने से इस प्रभेद का जो सम्बन्ध है, वह यह है कि धारा 437 के अधीन आने वाले मामलों में कुछ ऐसा आंकड़ा मौजूद है जिसके आधार पर यह दर्शित करना सम्भव है कि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार प्रतीत होते हैं कि आवेदक मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी है। धारा 438 के अधीन आने वाले मामलों में वह प्रक्रम अभी आना शेष है और उसके अधीन अधिकांश मामलों में यह कहना समय से पूर्व और वास्तव में कठिन है कि ऐसा विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त कारण हैं या नहीं हैं। धारा 437(1) में जिस विश्वास के आधार के बारे में बताया गया है, जिसके कारण न्यायालय आवेदक को जमानत पर नहीं छोड़ सकता है, वह प्रसामान्यतः प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिकथित अभिकथन की विश्वसनीयता है। धारा 438 के अधीन आने वाले अधिकांश मामलों में अपेक्षित विश्वास कायम रखने के लिए उस आंकड़े का अभाव होगा। यदि धारा 437 में

1980(4) eILR(PAT) SC 103

उल्लिखित शर्तों को धारा 438 के उपबन्धों पर भी लागू किया जाए, तो यह परिवर्तन विश्लेषण के बिना करना होगा। अर्थात्, उच्च न्यायालय के तर्क के आधार पर धारा 438(1) का अर्थान्वयन यह करना होगा कि उसमें ऐसा खण्ड अन्तर्विष्ट है कि आवेदक को जमानत पर उस दशा में "नहीं छोड़ा जाएगा", "यदि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार प्रतीत होते हैं कि वह मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी है।" इस प्रक्रिया में इस बात को नज़रअन्दाज करना होगा कि जहां कि धारा 438(1) के अधीन प्रदत्त शक्ति का प्रयोग उस दशा में किया जा सकता है यदि उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय ऐसा करना "ठीक समझे", वहीं धारा 437(1) जमानत अनुदत्त करने की शक्ति उन्हीं विस्तृत पदों में प्रदत्त नहीं करती है। "यदि वह...ठीक समझे" अभिव्यक्ति जो कि उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय की शक्ति के सम्बन्ध में धारा 438(1) में आई हुई है, धारा 437(1) में सहजदृष्टया मौजूद नहीं है। हमें धारा 438 को सीमित करने के प्रयोजनार्थ, न कि उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को प्रदत्त विवेकाधिकार के विस्तार और परिधि को विस्तृत करने की दृष्टि से, नए सिरे से प्रारूपण करने के लिए कोई भी विधिमान्य कारण दिखाई नहीं पड़ता है। तदनुसार, हम उच्च न्यायालय के इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं कि अग्रिम जमानत आपराधिक न्यासभंग जैसे अपराधों के लिए मात्र इस कारण अनुदत्त नहीं की जा सकती है, कि उसके लिए उपबन्धित दण्ड आजीवन कारावास है। परिस्थितियां ऐसे मामलों में भी जमानत के अनुदत्त किए जाने को, मोटे तौर से, न्यायोचित ठहरा सकती हैं, यद्यपि न्यायालय किसी मामले में अग्रिम जमानत से इनकार करने के लिए निश्चित रूप से उस दशा में स्वतंत्र होता है, यदि ऐसी इनकारी को न्यायोचित ठहराने के लिए उसके समक्ष सामग्री मौजूद हो।

19. उच्च न्यायालय ने स्वयं द्वारा विरचित पांचवें प्रतिपादन में बहुत कुछ कहा है जिसके अनुसार, अन्य बातों के साथ-साथ धारा 438 के अधीन शक्ति का प्रयोग उस दशा में नहीं किया जाना चाहिए, यदि अन्वेषण करने वाला अधिकरण युक्तियुक्त रूप से यह दावा कर सकता हो कि वह ऐसी जानकारी से जो कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 के अधीन अपराधी से प्राप्त किया जाना सम्भाव्य है, अभिशंसी सामग्री प्राप्त कर सकता है। उच्च न्यायालय के मतानुसार, पुलिस का यह अधिकार और कर्त्तव्य है कि वह उसके ध्यान में लाए गए अपराधों का अन्वेषण करे और इसी कारण से न्यायालयों को इस बारे में सावधान रहना चाहिए कि वे उस रीति से अपनी शक्तियों का प्रयोग न करें, जो उसमें हस्तक्षेप करने की कोटि में आए। यह सच है कि

1980(4) eILR(PAT) SC 103

न्यायपालिका और पुलिस के कृत्य, एक अर्थ में, अनुपूरक हैं, न कि अतिव्यापनकारी। और जैसा कि प्रिवी काउन्सिल ने **किंग एम्परर बनाम ख्वाजा नजीर अहमद**[1] वाले मामले में मत व्यक्त किया था—

> "जिस प्रकार से यह आवश्यक है कि प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की पहुंच जिस पर अपराध करने का अभियोग लगाया गया हो, न्यायालय तक इस प्रकार होनी चाहिए जिससे कि वह उस दशा में सम्यक् रूप से दोषमुक्त किया जा सके यदि वह उस अपराध का दोषी न पाया जाए जिसका आरोप उस पर लगाया गया है, उसी प्रकार से यह अत्यधिक महत्व की बात है कि न्यायपालिका को ऐसे मामलों में जो कि उसके अधिकार क्षेत्र के भीतर हैं और जिनमें विधि उन पर जांच करने का कर्त्तव्य अधिरोपित करती है, पुलिस के काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।...न्यायपालिका और पुलिस के कृत्य अनुपूरक हैं, न कि अतिव्यापनकारी, और विधि और व्यवस्था के सम्यक् अनुपालन और व्यक्ति की स्वाधीनता का संयोजन तभी हो सकता है, जबकि प्रत्येक को अपने-अपने कृत्य करने के लिए छोड़ दिया जाए... ।"

किन्तु स्मरण रहे, ये टिप्पणियां प्रिवी काउन्सिल ने लाहौर उच्च न्यायालय के इस मत को कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की पुरानी धारा 561-क के अधीन उसे ऐसी सभी कार्यवाहियों को अभिखण्डित करने की अन्तर्निहित अधिकारिता प्राप्त है, जो पुलिस ने दर्ज करायी गई दोनों प्रथम इत्तिला रिपोर्टों के अनुसरण में की थीं, अस्वीकृत करते हुए की थीं। ऐसी कार्यवाहियों को अभिखण्डित करने वाले आदेश के परिणामस्वरूप वे कार्यवाहियां समाप्त हो गईं, जिसका आवश्यक परिणाम यह हुआ कि अभियोग के सब अन्वेषण ठप्प पड़ गया। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया कि न्यायालय, अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए, वस्तुतः यह निदेश नहीं दे सकता है कि पुलिस प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अन्तर्विष्ट आरोपों का अन्वेषण नहीं करेगी। यहां पर हमारा सम्बन्ध ऐसी स्थिति से है जो कि पूर्णतः भिन्न प्रकार की है। अग्रिम जमानत का आदेश किसी भी प्रकार से, प्रत्यक्षतः या परोक्षतः पुलिस से उन आरोपों का जो कि जमानत पर छोड़े गए व्यक्ति के विरुद्ध लगाए गए हों या लगाए जाने वाले हों, अन्वेषण करने सम्बन्धी उसके अधिकार को नहीं छीनती है। वास्तव में धारा 438(1) के अधीन जारी किए गए निदेश में समाविष्ट प्रायिक शर्तों में से दो वे शर्तें हैं जिनकी बाबत उपधारा (2)(i) और (ii) में उपबन्ध किया गया है, जो आवेदक से इस बात की अपेक्षा करती हैं कि वह पुलिस से सहयोग

---

[1] एल० आर० (1945) 71 इण्डियन अपील्स 203.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

करे और इस बात का आश्वासन दे कि वह अन्वेषण के दौरान और उसके बाद साक्षियों को नहीं बहकाएगा। धारा 438(1) के अधीन अनुतोष अनुदत्त करते हुए, समुचित शर्तें धारा 438(2) के अधीन इस प्रकार अधिरोपित की जा सकती थीं जिससे कि अबाधित अन्वेषण सुनिश्चित हो सके। ऐसी शर्तों में से एक शर्त यह भी हो सकती है कि पुलिस द्वारा यह मामला बनाए जाने की स्थिति में कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 के अधीन प्रकटीकरण संभाव्य है, जमानत पर छोड़ा गया व्यक्ति प्रकटीकरण को सुविधाजनक बनाने के लिए पुलिस की अभिरक्षा में रखे जाने के दायित्वाधीन होगा। इसके अलावा यदि और जब अवसर आता है, अभियोजन-पक्ष के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह जमानत पर छोड़े गए व्यक्ति द्वारा दी गई जानकारी के अनुसरण में **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम देवमन उपाध्याय**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा बताए गए इस प्रभाव के सिद्धान्त का सहारा लेकर, कि जब ऐसा व्यक्ति जो अभिरक्षा में नहीं है, किसी अपराध का अन्वेषण करने वाले पुलिस अधिकारी के पास पहुंचता है और उसे ऐसी जानकारी देने की प्रस्थापना करता है जिसके परिणामस्वरूप आरोप से सम्बन्धित कोई तथ्य प्रकट होता है, जो कि उसके विरुद्ध लगाया जाए, तो उसकी बाबत समुचित रूप से यह समझा जा सकता है कि उसने अपने आपको पुलिस के समक्ष अभ्यर्पित कर दिया है, तथ्य सम्बन्धी प्रकटीकरण की बाबत साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 का फ़ायदा प्राप्त करने का दावा करे। इस नियम के विस्तृत आधार की बाबत यह बताया गया है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 46 में किसी व्यक्ति की बाबत यह कहे जाने के पूर्व कि उसे अभिरक्षा में ले लिया गया है, कोई औपचारिकता अनुध्यात नहीं है : शब्दों या कार्यवाही द्वारा किसी व्यक्ति द्वारा अभिरक्षा के लिए समर्पित करना पर्याप्त है। उसी प्रकार के कारणों से हम इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि अग्रिम जमानत देने से उस दशा में इनकार किया जाना चाहिए कि संहिता की धारा 167(2) के अधीन अपराधी का पुलिस अभिरक्षा के लिए रिमाण्ड किए जाने के वास्ते समुचित मामला अन्वेषण करने वाले अधिकरण द्वारा बनाया गया है।

20. उच्च न्यायालय के तीसरे प्रतिपादन पर इसलिए विचार करना आवश्यक है क्योंकि हमने पहले ही यह उपदर्शित कर दिया है कि धारा 438 में उन परिसीमाओं के जो कि धारा 437 में उल्लिखित हैं, मौजूद होने सम्बन्धी अर्थान्वयन करने के लिए कोई भी औचित्य नहीं है। उच्च न्यायालय का कहना यह है कि ऐसी परिसीमाएं धारा 438 में विवक्षित हैं, किन्तु,

---

[1] [1961] 1 एस० सी० आर० 14.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

सादर, ऐसी कोई भी विवक्षाएं न तो उद्भूत होती हैं, और न ही उनकी बाबत यह अर्थान्वियन किया जा सकता है कि वे उस धारा में मौजूद हैं। इस धारा को सम्पूर्ण रूप से अपना काम करने देना चाहिए।

21. उच्च न्यायालय का अपने चौथे प्रतिपादन में यह कहा है कि धारा 437 में उल्लिखित परिसीमाओं के अलावा, अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति का प्रयोग करने के लिए, पिटीशनर को "विशेष मामला" अवश्य ही बनाना चाहिए। वस्तुतः इसके परिणामस्वरूप धारा 438 द्वारा श्रेयस्कर शक्ति निरर्थक हो जाती है। यह दर्शित करने की उत्सुकता के कारण जो कि अन्यथा न्यायोचित है, धारा 438 द्वारा प्रदत्त शक्ति को "अनियंत्रित नहीं है या उसे इच्छित दिशा में मोड़ा जा सकता", उच्च न्यायालय ने शक्ति को ऐसे निर्बन्धन के अध्यधीन कर दिया है जिसका प्रभाव उस शक्ति को पूर्णतः अनियंत्रित करना होगा। यह कहना कि आवेदक को अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति का प्रयोग करने के लिए "विशेष मामला" बनाना चाहिए, वास्तव में कुछ भी कहना नहीं है। निस्संदेह, अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के लिए आवेदक को मामला बनाना पड़ता है। किन्तु इसके आगे और नहीं जाया जा सकता और यह नहीं कहा जा सकता कि उसे "विशेष मामला" अवश्य ही बनाना चाहिए। हमारी समझ में यह बात नहीं आती है कि धारा 438 के उपबंधों के बारे में यह संदेह क्यों किया जाए कि उनमें परिवर्तनशील या विस्फोटक जैसी कोई बात मौजूद है जिसके संबंध में ऐसी सर्वाधिक सतर्कता और सावधानी के साथ जिसकी कल्पना की जा सकती है, कार्रवाई की जानी चाहिए, न्यायिक शक्ति का बुद्धिमानी के साथ प्रयोग करने के परिणामस्वरूप आवश्यक रूप से उन बुरे परिणामों से बचाव हो जाता है जो उसके असंयत उपयोग के कारण होना सम्भाव्य है। प्रत्येक प्रकार के न्यायिक विवेकाधिकार का उपयोग, उस मामले की जिसके संबंध में उसका प्रयोग करना अपेक्षित है, चाहे जो भी प्रकृति हो, सम्यक् सतर्कता और सावधानी के साथ करना होता है। वास्तव में, जिस संदर्भ में विवेकाधिकार का प्रयोग करना अपेक्षित है, उसका पता होना और उसके उपयोग के युक्तियुक्त रूप से पूर्वानुमान किए जाने योग्य परिणामों का पता होना, न्यायिक विवेकाधिकार के प्रज्ञापूर्ण प्रयोग का प्रमाणांकन है। अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति को हौवा नहीं बनाया जाना चाहिए।

22. प्रतिपादन संख्या 1 द्वारा उच्च न्यायालय का कहना यह है कि धारा 438 द्वारा प्रदत्त शक्ति "असाधारण स्वरूप की है और उसका प्रयोग केवल आपवादिक मामलों में बहुत ही कम किया जाना चाहिए।" उस शक्ति

1980(4) eILR(PAT) SC 103

को असाधारण स्वरूप की शक्ति वर्णन करना कदाचित ठीक हो सकता है, क्योंकि मामूली तौर से धारा 437 या धारा 439 के अधीन जमानत के लिए आवेदन किया जाता है। इन धाराओं में किसी ऐसे व्यक्ति को जो कि पुलिस की अभिरक्षा में है, जमानत अनुदत्त करने की या उससे इनकार करने की शक्ति के संबंध में उपबंध किया गया है और वह ऐसी मामूली स्थिति है जिसमें साधारणतः जमानत के लिए आवेदन किया जाता है। किन्तु इसके परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष न्यायोचित नहीं ठहरता है कि शक्ति का प्रयोग केवल आपवादिक मामलों में किया जाना चाहिए, क्योंकि वह असाधारण स्वरूप की है। वास्तव में हम अनेक बार यह कहेंगे कि सब विवेकाधिकार का प्रयोग सतर्कता और चौकसी के साथ किया जाना चाहिए, जो कि उसके प्रयोग को न्यायोचित ठहराने वाली परिस्थितियों पर निर्भर है। इससे आगे जाना, और विधानमण्डल द्वारा प्रदत्त विस्तृत शक्ति को आत्मभिरोपित परिसीमाओं की कठोर संहिता के अध्यधीन करना अनावश्यक है।

23. उच्च न्यायालय ने जो दूसरा प्रतिपादन विरचित किया था, केवल उस पर अब विचार करना रह गया है, जो कि एकमात्र ऐसा प्रतिपादन है जिससे हम सहमत होना चाहते हैं किन्तु हम कुछ आगे चलकर और अधिक बताएंगे।

24. इस प्रक्रम में बालचन्द जैन बनाम मध्य प्रदेश राज्य[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय के प्रति निर्देश करना समुचित होगा, जिसका अवलम्ब उच्च न्यायालय ने अपना प्रतिपादन विरचित करते समय पर्याप्त रूप से लिया है। हममें से एक न्यायाधिपति भगवती ने, जिन्होंने अपनी ओर से और न्यायाधिपति ए० सी० गुप्ता की ओर से निर्णय दिया था, उस मामले में यह मत व्यक्त किया था कि—

> "अग्रिम जमानत मंजूर करने की यह शक्ति किंचित असाधारण प्रकृति की शक्ति है और केवल असाधारण मामलों में ही जहां यह प्रतीत होता हो कि किसी व्यक्ति को मिथ्या रूप से फांसा जा सकता है अथवा उसके विरुद्ध तुच्छ मामला गढ़ा जा सकता है अथवा यह मानने के लिए युक्तियुक्त आधार है कि किसी अपराध से अभियुक्त व्यक्ति ऐसा है कि उसके फरार होने की कोई संम्भावना नहीं है, अथवा वह जमानत पर रहते हुए अपनी स्वाधीनता का अन्यथा दुष्प्रयोग नहीं करेगा तभी इस शक्ति का प्रयोग किया जाता है।"

[1] [1977] 4 उम० नि० प० 752-762=[1977] 2 एस० सी० आर० 52.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

न्यायाधिपति फज़ल अली ने भी, जिन्होंने सहमत होते हुए पृथक् निर्णय दिया था, यह मत व्यक्त किया—

> "अग्रिम जमानत का आदेश विशेष मामलों में उपलभ्य असाधारण अभ्युपाय है।"

उन्होंने इसके आगे यह मत व्यक्त किया—

> "चूंकि धारा 438 अव्यवहित रूप से धारा 437 के पश्चात् आती है, जो कि अजमानतीय अपराधों की बाबत जमानत के लिए मुख्य उपबंध है, इसलिए यह सुस्पष्ट है कि धारा 437(1) द्वारा अधिरोपित शर्तें संहिता की धारा 438 में विवक्षित रूप से अन्तर्विष्ट हैं। अन्यथा, परिणाम यह होगा कि कोई ऐसा व्यक्ति जिस पर हत्या का आरोप लगाया गया हो, यह साबित करने की आवश्यकता के बिना अग्रिम जमानत के लिए आदेश अभिप्राप्त करके धारा 438 के अधीन बच निकलेगा कि यह विश्वास करने के लिए युक्तियुक्त आधार हैं कि वह मृत्यु अथवा आजीवन कारावास से दण्डनीय अपराध का दोषी नहीं था। ऐसा रास्ता अपनाने से धारा 437 के उपबंध निष्फल हो जाएंगे और जिन व्यक्तियों पर अजमानतीय अपराधों के आरोप लगाए गए हों, उन्हें इस बात की खुली स्वतन्त्रता मिल जाएगी कि वे संहिता की धारा 438 के अधीन न्यायालय से सम्पर्क स्थापित करके और धारा 437 की अवहेलना करते हुए आसानी से जमानत ग्रहण कर सकें। हम यह महसूस करते हैं कि विधानमण्डल का कदापि यह आशय नहीं हो सकता था। धारा 438 में अग्रिम जमानत के लिए आदेश करने के लिए अनियंत्रित अथवा उच्छृंखल शक्ति अन्तर्विष्ट नहीं है किन्तु चूंकि ऐसा आदेश असाधारण प्रकृति का आदेश है, इसलिए उसे धारा 437 में वर्णित शर्तों के अलावा, केवल तभी किया जा सकता है यदि आदेश करने के लिए विशेष रूप से मामला बनाया गया हो। "इस धारा के अधीन निदेश के लिए" तथा "यदि वह न्यायालय ठीक समझे, तो वह निदेश दे सकता है" शब्दों से यह साफ दिखाई देता है कि न्यायालय का मार्गदर्शन अनेक विचार्य विषयों द्वारा किया जाना होता है, जिनके अन्तर्गत संहिता की धारा 437 में वर्णित शर्तें भी हैं।"

इन निष्कर्षों का वर्णन करते हुए न्यायाधिपति फज़ल अली ने निष्कर्ष संख्या 3 में यह बात दोहराई कि "संहिता की धारा 438 एक असाधारण उपचार है और उसका आश्रय केवल विशेष मामलों में लिया जाना चाहिए।"

25. हम **बालचन्द जैन वाले मामले**[1] में किए गए विनिश्चय को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि धारा 438 के निर्वचन से संबंधित प्रश्न उस मामले में उत्पन्न ही नहीं हुआ था। न्यायाधिपति फज़ल अली ने अपने निर्णय के पैरा 3 में यह मत व्यक्त किया है कि एकमात्र मुद्दा जो न्यायालय के समक्ष विचार के लिए उत्पन्न हुआ था, वह यह था कि क्या अग्रिम जमानत से संबंधित धारा 438 के उपबंध भारत रक्षा और आन्तरिक सुरक्षा नियम, 1971 के नियम 184 के बल पर उलट दिए गए थे और निरसित कर दिए गए थे या यह कि क्या ये दोनों ही उपबंध सामंजस्यपूर्ण निर्वचन के नियम के कारण साथ-साथ चलते हैं। न्यायाधिपति भगवती ने अपने निर्णय में धारा 438 के प्रति निर्देश करते हुए, यह भी मत व्यक्त किया था कि इस अपील में न्यायालय का संबंध नियम 184 से ही है। धारा 438 द्वारा प्रदत्त शक्ति की प्रकृति के संबंध में और इसी कारण से इस प्रश्न के संबंध में भी कि क्या धारा 437 में उल्लिखित शर्तों की बाबत यह अर्थान्वयन किया जाना चाहिए कि वे धारा 438 में मौजूद है, **बालचन्द जैन वाले मामले**[1] में व्यक्त विचारों के बारे में यह नहीं माना जा सकता है कि वे इन मुद्दों के संबंध में, जो कि हमारे समक्ष विचार के लिए प्रत्यक्षतः उत्पन्न हुए हैं, अंतिम निर्णय हैं। हम, सादर, इस बात से सहमत हैं कि धारा 438 द्वारा प्रदत्त शक्ति उस अर्थ में जो कि ऊपर उपदर्शित है, असाधारण स्वरूप की है, अर्थात् यह कि उसका सहारा मामूली तौर से उस प्रकार से नहीं लिया जाता है जिस प्रकार से धारा 437 और धारा 439 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का सहारा लिया जाता है। हम इस बात से भी सहमत हैं कि अग्रिम जमानत अनुदत्त करने की शक्ति का प्रयोग सम्यक् सावधानी और चौकसी के साथ किया जाना चाहिए, किन्तु उसके परे, उन विचारों से सहमत होना सम्भव नहीं है जो कि **बालचन्द जैन वाले मामले**[1] में पूर्णतः भिन्न संदर्भ में तथा पूर्णतः भिन्न मुद्दे के संबंध में व्यक्त किए गए थे।

26. हमें श्री तारकुण्डे की इस दलील में बहुत ही सार दिखाई पड़ता है कि चूंकि जमानत देने से इनकार करना दैहिक स्वाधीनता से वंचित करने की कोटि में आता है, इसलिए न्यायालय को धारा 438 के विस्तार पर अनावश्यक निर्बन्धनों के अधिरोपण के विरुद्ध विशेषकर तब अपना रुख रखना चाहिए, जबकि विधानमण्डल ने उस धारा के उपबंधों पर ऐसा कोई भी निर्बन्धन अधिरोपित नहीं किया है। धारा 438 ऐसा प्रक्रियात्मक उपबंध

1 [1977] 4 उम० नि० प० 752-762=[1977] 2 एस० सी० आर० 52.

है जिसका सम्बन्ध ऐसे व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता से है जो कि निर्दोषता की उपधारणा का फायदा प्राप्त करने का हकदार है, क्योंकि वह अग्रिम जमानत के लिए प्रस्तुत अपने आवेदन की तारीख को, ऐसे अपराध से दोषसिद्ध नहीं किया गया है जिसके संबंध में वह जमानत प्राप्त करने की ईप्सा कर रहा है। ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों को जो कि धारा 438 में मौजूद नहीं है, अत्युदार रूप से अधिरोपित करने के परिणामस्वरूप उसके उपबंध सांविधानिक रूप से आलोचना के विषय हो जाएंगे, क्योंकि दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार अयुक्तियुक्त निर्बन्धनों के अनुपालन पर निर्भर नहीं रखा जा सकता। धारा 438 में अन्तर्विष्ट फायदाप्रद उपबंध को अवश्य ही संरक्षा प्रदान की जानी चाहिए, किन्तु उन्हें नष्ट नहीं कर दिया जाना चाहिए। **मेनका गांधी वाले मामले**[1] में किए गए विनिश्चय के पश्चात्, इस संबंध में कोई भी संदेह नहीं रह सकता है कि संविधान के अनुच्छेद 21 की चुनौती का मुकाबला करने की दृष्टि से किसी व्यक्ति की स्वाधीनता से उसे वंचित करने के लिए विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को उचित, न्यायोचित और युक्तियुक्त होना चाहिए। जिस रूप में विधानमण्डल ने धारा 438 की कल्पना की है, उस पर इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती है कि उसमें ऐसी प्रक्रिया विहित की गई है जो कि अन्यायोचित या अनुचित है। हमें किसी भी स्थिति में उसमें उन शब्दों की, जो कि उसमें मौजूद नहीं हैं, मौजूदगी की बात कह कर उसे सांविधानिक चुनौती का विषय नहीं बनाना चाहिए।

27. उन विनिश्चयों के प्रति जिनमें मामूली जमानत के अधिकार के संबंध में विचार व्यक्त किए गए हैं, निर्देश करना आवश्यक है, क्योंकि वह अधिकार अग्रिम जमानत के अधिकार के ठीक समानान्तर नहीं है। तथापि, यह दिलचस्प है कि 1924 में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने **नगेन्द्र बनाम किंग एम्परर**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया था कि जमानत का उद्देश्य विचारण के समय अभियुक्त की उपस्थिति सुनिश्चित करना है; यह कि इस प्रश्न के कि क्या जमानत अनुदत्त की जानी चाहिए या उससे इनकार किया जाना चाहिए, हाल में लागू की जाने वाली उचित कसौटी यह है कि क्या यह अधिसम्भाव्य है कि पक्षकार अपने विचारण के लिए उपस्थित होगा, और यह कि यह निर्विवाद है कि जमानत दण्ड के रूप में विधारित नहीं की जा सकती। अन्य दो मामलों में जो कि उल्लेखनीय रूप से 'मेरठ षड्यंत्र से संबंधित मामले' हैं, वे विचार जमानत के अधिकार के संबंध में व्यक्त किए

---

[1] [1979] 1 उम० नि० प० 243=(1978) 1 एस० सी० सी० 248.

[2] ए० आई० आर० 1924 कलकत्ता 476-479-480.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

गए हैं, जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। **के० एन० जोगलेकर बनाम किंग एम्परर**[1] वाले मामले में, धारा 598 के संबंध में जो कि इस संहिता की प्रस्तुत धारा 439 की तत्सम्बन्धी धारा है, विचार व्यक्त करते हुए यह मत व्यक्त किया गया था कि वह सेशन न्यायालय और उच्च न्यायालय, दोनों, को जमानत देने की ऐसी विस्तृत शक्तियां प्रदत्त करती है, जिनमें पूर्ववर्ती धारा 497 में के जो कि वर्तमान धारा 437 की तत्सम्बन्धी धारा है, निर्बन्धनों द्वारा कोई भी बाधा उत्पन्न नहीं होती है। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि धारा 498 द्वारा प्रदत्त विवेकाधिकार के प्रयोग को लागू होने वाला कोई भी कठोर और निश्चित नियम नहीं है और न ही कोई अनन्य सिद्धान्त ही है और यह कि जो एकमात्र सिद्धान्त स्थापित किया गया था, वह यह था कि विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायिक रूप से किया जाना चाहिए। **एम्परर बनाम एच० एल० हचिन्सन**[2] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि ऐसे कोई विशिष्ट नियम जो कि उच्च न्यायालय को आबद्ध करेंगे, इस तथ्य का ध्यान रखते हुए कि विधानमण्डल ने स्वयं न्यायालय के विवेकाधिकार को अनियंत्रित छोड़ दिया है, अधिकथित करने की कोशिश करना बहुत ही अबुद्धिमत्तापूर्ण है। उच्च न्यायालय के मतानुसार, समय-समय पर जो अनेक मामले उत्पन्न होते हैं, उन्हें किसी खतरे के बिना वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है और मामले को वर्गीकृत करने की कोशिश करना और यह कहना खतरनाक है कि विशिष्ट वर्गों में जमानत अनुदत्त की जा सकती है, किन्तु अन्य वर्गों में यह अनुदत्त नहीं की जा सकती। यह मत व्यक्त किया गया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की विभिन्न धाराओं से जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था, वह यह था कि जमानत अनुदत्त करना नियम है और उससे इनकार करना अपवाद है। ऐसा अभियुक्त व्यक्ति जो कि स्वतंत्रता का उपभोग करता है, अपने मामले की पैरवी करने और उचित रूप से स्वयं अपनी प्रतिरक्षा करने में उसकी अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति में होता है, यदि वह अभिरक्षा में होता है। अतः कदाचित निर्दोष व्यक्ति के रूप में वह स्वतन्त्रता प्राप्त करने का तथा अपने स्वयं के मामले की देखभाल करने का प्रत्येक अवसर प्राप्त करने का हकदार है। कदाचित निर्दोष व्यक्ति को अपनी निर्दोषिता साबित करने में उसे समर्थ बनाने के लिए उसे स्वतंत्र होना ही चाहिए।

---

[1] ए० आई० आर० 1931 इलाहाबाद 504.

[2] ए० आई० आर० 1931 इलाहाबाद 356-358.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

28. इसी न्यायालय के न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने **गुडिकान्ति नरसिंहलू बनाम लोक अभियोजक, आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था : "मुद्दा स्वतन्त्रता, न्याय, लोक-सुरक्षा और राज्य-कोष पर भार का है जिनमें से सभी यह आग्रह करते हैं कि जमानत का विकसित न्यायशास्त्र सामाजिक रूप से सुग्राह्य न्याय-प्रक्रिया का अभिन्न भाग है। आखिरकार किसी अभियुक्त अथवा सिद्धदोष व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता मूलभूत होती है, जो 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के अनुसार ही विधिक रूप से समाप्त की जा सकती है। अनुच्छेद 21 के अन्तिम चार शब्द उस मानवीय अधिकार का प्राण हैं।"

29. **गुरचरण सिंह बनाम राज्य (दिल्ली प्रशासन)**[2] वाले मामले में न्यायाधिपति गोस्वामी ने जिन्होंने न्यायालय की ओर से निर्णय दिया था, यह मत व्यक्त किया : "जमानत अनुदत्त करने के मामले में कोई कठोर सिद्धान्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक मामले के तथ्य और परिस्थितियां जमानत अनुदत्त करने या रद्द करने में न्यायिक विवेक के प्रयोग को लागू होंगी।"

30. अमेरिकन ज्युरिसप्रूडेंस (द्वितीय, खण्ड 8, पृष्ठ 806, पैरा 39) में यह मत व्यक्त किया है—

> "जहां कि जमानत अनुदत्त करना न्यायालय के विवेकाधिकार के भीतर होता है, वहां अनुदत्त करना या उससे इनकार करना, बहुत हद तक, प्रत्येक विशिष्ट मामले के तथ्यों और परिस्थितियों द्वारा विनियमित होता है। चूंकि अभियुक्त का निरोध या उसे कारावासित करने का उद्देश्य उसकी उपस्थिति और न्यायालय की अधिकारिता तथा उसके निर्णय के समक्ष उसके समर्पण को सुनिश्चित करना है, इसलिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मुचलका या बन्धपत्र से वह उद्देश्य प्राप्त हो जाएगा।"

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर कि क्या जमानत दी जाए या न दी जाए, विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर है जिसका मिलाजुलाकर जो प्रभाव होता है, वह न्यायिक अभिमत में अवश्य व्यक्त किया जाना चाहिए। किसी एकल परिस्थिति के बारे में यह नहीं माना जा सकता कि वह व्यापक विधिमान्यता वाली परिस्थिति है या यह कि उससे निश्चित रूप से जमानत अनुदत्त करने या उससे इनकार करने की बात न्यायोचित ठहरती है।

---

[1] [1978] 4 उम० नि० प० 1001-1006=(1978) 1 एस० सी० सी० 210.

[2] [1978] 4 उम० नि० प० 966-989=(1978) 1 एस० सी० सी० 118.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

31. यदि अग्रिम जमानत के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्थापित अभियोग न्याय के उद्देश्यों को अग्रसर करने के हेतुओं का परिणाम नहीं है, बल्कि किसी परतर हेतु का परिणाम है, तो चूंकि उसका उद्देश्य अपीलार्थी की गिरफ्तारी करके उसे क्षति पहुंचाना या अपमानित करना है, इसलिए आवेदक की गिरफ्तारी की स्थिति में उसे जमानत पर छोड़ने के लिए साधारणतः निदेश दिया जाएगा। दूसरी ओर यदि, आवेदक के पूर्ववृत्त पर विचार करते हुए यह सम्भाव्य प्रतीत होता है कि अग्रिम जमानत के आदेश का फायदा उठाकर, वह न्याय से दूर भाग जाएगा, तो ऐसा आदेश नहीं दिया जाएगा, किन्तु इन प्रतिपादनों के विपरीत जो बात है, वह आवश्यक रूप से सच नहीं है। अर्थात्, कठोर नियम के रूप में यह अधिकथित नहीं किया जा सकता कि अग्रिम जमानत तब तक नहीं अनुदत्त की जा सकती जब तक कि प्रस्थापित अभियोग असद्भाव के द्वारा प्रेरित हुआ प्रतीत नहीं होता; और उसी प्रकार से यदि इस संबंध में कोई भय न हो कि आवेदक फरार हो जाएगा, तो अग्रिम जमानत अवश्य ही अनुदत्त की जानी चाहिए। ऐसी अन्य बहुत-सी बातें हैं जिनकी प्रगणना करना सम्भव नहीं है, जिनका सब मिलाजुलाकर जो प्रभाव होता है, उसे न्यायालय को अग्रिम जमानत अनुदत्त करते समय या उसे अस्वीकृत करते हुए महत्व देना चाहिए। प्रस्थापित आरोपों की प्रकृति और गम्भीरता, ऐसी घटनाओं का संदर्भ जिनके परिणामस्वरूप आरोपों का लगाया जाना सम्भाव्य हो, यह युक्तियुक्त सम्भावना कि विचारण के समय आवेदक की उपस्थिति सुनिश्चित नहीं की जा सकती है, यह युक्तियुक्त आशंका कि साक्षियों को तोड़ लिया जाएगा और "जनता या राज्य के व्यापक हित" बहुत सी बातों में से कुछ ऐसी हैं जिन्हें न्यायालय को अग्रिम जमानत के लिए प्रस्तुत आवेदन विनिश्चित करते समय मस्तिष्क में रखना होता है। इन बातों के सुसंगत होने के बारे में राज्य बनाम कैप्टन जगजीत सिंह[1] वाले मामले में बताया गया था जो कि यद्यपि पुरानी धारा 498 के अधीन जो इस संहिता की वर्तमान धारा 439 की तत्सम्बन्धी धारा है, वाला मामला था। यह स्मरण रखना बहुत ही महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज के अस्तित्व के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि किसी व्यक्ति के स्वार्थपरक प्रयोजनों के लिए। ऐसा व्यक्ति जो कि अग्रिम जमानत की ईप्सा करता है, ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति रहता है जो कि निर्दोष होने की उपधारणा किए जाने का हकदार होता है। वह, उन शर्तों को स्वीकार करके जिन्हें कि न्यायालय अधिरोपित करना ठीक समझे, इस आश्वासन पर विचार करते हुए कि यदि

---

[1] [1962] 3 एस० सी० आर० 622.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

वह गिरफ्तार किया जाएगा, तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाएगा, अपनी स्वतन्त्रता पर लगाए गए निर्बन्धनों को स्वीकार करने के लिए राज़ी है।

32. इस बात का मूल्यांकन करने में कि क्या आवेदक का फरार होना सम्भाव्य है, कदाचित सावधानी का एक शब्द आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कोई भी उपधारणा नहीं की जा सकती कि धनी और शक्तिशाली लोग ही विचारण के लिए स्वयं को समर्पित करेंगे और यह कि कमज़ोर और निर्धन लोग न्याय के रास्ते से दूर भाग जाएंगे—यह बात इससे अधिक सही नहीं है कि इस सम्बन्ध में उपधारणा हो सकती है कि पूर्वकथित का अपराध करना सम्भाव्य नहीं है और पश्चात्कथित का अपराध करना अधिक सम्भाव्य है। सैलिसबरी एसाईज़ेस, 1899 में (जिसके प्रति न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने गुडिकान्ति वाले मामले[1] में निर्दिष्ट किया है) वृहत जूरी के भारसाधक के रूप में लॉड रसेल ऑफ किलोवेन ने यह मत व्यक्त किया था—

> "……जहां कहीं भी व्यावहारिक हो, अभियुक्त व्यक्तियों की जमानत करनी मजिस्ट्रेटों का कर्त्तव्य है, जब तक कि यह मानने के लिए सबल आधार मौजूद न हों कि ऐसे व्यक्ति अपने विचारण के लिए उपस्थित नहीं होंगे। अधिक निर्धन वर्ग के लोग ही ऐसे नहीं हैं जो कि उपस्थित नहीं होते, क्योंकि उनकी परिस्थितियां ऐसी होती हैं जो कि उन्हें उस स्थान से बांधे रहती हैं, जहां कि वे अपना काम करते हैं। उनके पास इतना धन नहीं होता जिससे कि वे न्याय से दूर भाग सकें।"

प्रसंगवश, इससे यह दर्शित होगा कि जमानत अनुदत्त करने या उससे इनकार करने जैसे वैवेकिक विषयों में, चाहे वह जमानत अग्रिम हो या अन्यथा, अधिक कठोर और निश्चित नियम क्यों नहीं अधिकथित किए जा सकते। ऐसे कोई नियम इसी कारण मात्र से अधिकथित नहीं किए जा सकते और ऐसी परिस्थिति को जो कि किसी विशिष्ट मामले में निश्चायक हो सकती है, किसी अन्य मामले में मामूली महत्व से अधिक महत्व प्राप्त नहीं हो सकता।

33. अतः हम उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय को, बुद्धिमत्तापूर्ण और सावधानीपूर्ण रीति से अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए जिसे करने के लिए वे अपने लम्बे प्रशिक्षण और अनुभव के कारण वैचारिक दृष्टि से उपयुक्त हैं, धारा 438 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए छोड़ देना अधिक अच्छा समझेंगे। न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति इन

[1] [1978] 4 उम० नि० प० 1001-1006=(1978) 1 एस० सी० सी० 240.

1980(4) eILR(PAT) SC 103

न्यायालयों को वस्तुपरक रूप से और जमानत अनुदत्त करने की बात को लागू होने वाले सिद्धान्तों के अनुरूप जो कि वर्षों से मान्यताप्राप्त हैं, कार्य करने के लिए उन पर विश्वास करके अधिक हो सकती है। अपेक्षाकृत इसके कि उन्हें अपने विवेकाधिकार के प्रयोग से वंचित कर दिया जाए, जो विधानमण्डल ने साधारण प्रयोज्यता के अनम्य नियम अधिकथित करके उनको प्रदत्त किया है। किसी कानून को उस रूप में मानना जिस रूप में कि वह प्राप्त होता है, न केवल आम बात है बल्कि पुरानी बात भी है और वह इस आधार पर है कि कुछ भी हो "विधानमण्डल ने अपनी बुद्धि के अनुसार" किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति का प्रयोग करना ठीक समझा है। उपयोगी रूप से कोई परम्परा विकसित हो सकती है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय की बुद्धि के अनुसार अपनी वैवेकिक शक्तियों का प्रयोग करने के लिए विशेषकर उस समय उन पर विश्वास किया जा सकता है जब कि विधानमण्डल ने अपनी बुद्धि के अनुसार विवेकाधिकार के प्रयोग को उनकी देखरेख में सौंपा हो। यदि वे गलती करते हैं, तो वे ठीक किए जाने के दायी हैं।

34. यहीं पर यह मामला समाप्त होना चाहिए किन्तु किन्हीं ऐसे मुद्दों को स्पष्ट करना आवश्यक है जिसके परिणामस्वरूप कुछ गलतफहमियां उत्पन्न हुई हैं।

35. संहिता की धारा 438(1) में ऐसी शर्त अधिकथित है जिसकी पूर्ति अग्रिम जमानत अनुदत्त करने के पूर्व करनी पड़ती है। आवेदक को यह अवश्य ही दर्शित करना चाहिए कि उसके पास विश्वास करने का कारण है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। "विश्वास करने का कारण" अभिव्यक्ति के उपयोग से यह दर्शित होता है कि यह विश्वास कि आवेदक को उस प्रकार गिरफ्तार किया जा सकता है, युक्तियुक्त आधारों पर आधारित होना चाहिए। मात्र 'भय' 'विश्वास' नहीं है, जिस कारण से आवेदक के लिए यह दर्शित करना ही काफी नहीं है कि उसके मन में किसी प्रकार की अस्पष्ट आशंका है कि कोई उस पर ऐसा अभियोग लगाने जा रहा है जिसके अनुसरण में गिरफ्तार किया जा सकता है। उन आधारों को जिन पर आवेदक का यह विश्वास आधारित है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है, न्यायालय द्वारा वस्तुपरक रूप से परीक्षा किए जाने के लायक होना चाहिए, क्योंकि केवल तभी न्यायालय यह अवधारित कर सकता है कि क्या आवेदक के पास यह विश्वास करने का कारण है कि उसे इस प्रकार गिरफ्तार किया जा सकता है। अतः अस्पष्ट और साधारण अभिकथनों के आधार पर धारा 438(1) का

1980(4) eILR(PAT) SC 103

सहारा इस प्रकार नहीं लिया जा सकता, मानो कि किसी व्यक्ति को सम्भावित गिरफ्तारी के विरुद्ध शाश्वत् रूप से लैस किया गया हो। अन्यथा, अग्रिम जमानत के लिए किए जाने वाले अनेक आवेदन किसी भी स्थिति में इतने अधिक होंगे जितने कि वयस्क लोग होते हैं। अग्रिम जमानत किसी व्यक्ति की स्वाधीनता को सुनिश्चित करने की युक्ति है; यह न तो अपराध करने का पासपोर्ट है और न ही सम्भाव्य या असम्भाव्य किसी या सभी प्रकार के अभियोगों के विरुद्ध ढाल है।

द्वितीयतः, यदि अग्रिम जमानत के लिए आवेदन उच्च न्यायालय या सेशन न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तो उसे इस प्रश्न पर अपनी बुद्धि का उपयोग अवश्य ही करना चाहिए और यह अवश्य विनिश्चित करना चाहिए कि ऐसा अनुतोष देने के लिए मामला बनाया गया है। वह संहिता की धारा 437 के अधीन सम्बन्धित मजिस्ट्रेट के विनिश्चय के लिए उस प्रश्न को उस समय और तब के लिए नहीं छोड़ सकता, जब कभी ऐसा अवसर आए। ऐसा रास्ता अपनाने से धारा 438 का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा।

तृतीयतः, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का फाइल करना धारा 438 के अधीन शक्ति के प्रयोग के लिए पूर्ववर्ती शर्त नहीं है। युक्तियुक्त विश्वास पर आधारित सम्भाव्य गिरफ्तारी की असंगतता की बाबत यह दर्शित किया जा सकता है कि यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभी फाइल न भी की गई हो, तब भी वह विद्यमान है।

चतुर्थतः, जब तक कि आवेदक को गिरफ्तार न कर लिया गया हो, अग्रिम जमानत प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद भी अनुदत्त की जा सकती है।

पांचवीं बात यह है कि धारा 438 के उपबन्धों का सहारा अभियुक्त की गिरफ्तारी के बाद नहीं लिया जा सकता। ऐसे अभियुक्त को जो गिरफ्तार कर लिया गया है, "अग्रिम जमानत" अनुदत्त करना अपने-आप में वहां तक परस्पर विरोधी है जहां तक कि ऐसे अपराध या अपराधों का जिसके या जिनके लिए उसे गिरफ्तार किया गया है, सम्बन्ध है। गिरफ्तारी के बाद अभियुक्त को संहिता की धारा 437 या 439 के अधीन अपने उपचार की ईप्सा उस दशा में करनी चाहिए, यदि वह उस अपराध या उन अपराधों के सम्बन्ध में जिसके या जिनके लिए उसे गिरफ्तार किया गया है, जमानत पर छोड़ दिया जाना चाहता है।

36. हमने यह मत व्यक्त किया है कि उच्च न्यायालय ने केवल एक ऐसा प्रतिपादन विरचित किया है जिससे कि हम सहमत हैं। वह प्रतिपादन संख्या (2) है। हम इस बात से सहमत हैं कि अग्रिम जमानत से सम्बन्धित सर्वग्राही आदेश (ब्लैंकेट आर्डर) साधारण रूप से नहीं दिया जाना चाहिए। यह बात इस धारा की भाषा से ही बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जो कि, जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है, आवेदक से यह दर्शित करने की अपेक्षा करती है कि "उसके पास यह विश्वास करने का कारण है" कि उसे गिरफ्तार किया जा सकता है। किसी विश्वास के युक्तियुक्त आधारों पर आधारित होने की बात केवल तभी कही जा सकती है, यदि ऐसी कोई ठोस बात हो जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आवेदक की यह आशंका कि उसे गिरफ्तार किया जा सकता है, वास्तविक है। यही कारण है कि प्रसामान्यतः, धारा 438(1) के अधीन इस प्रभाव का निदेश जारी नहीं किया जाना चाहिए कि आवेदक को "जब कभी भी गिरफ्तार किया जाएगा और जिस किसी भी अपराध के लिए गिरफ्तार किया जाएगा" जमानत पर छोड़ दिया जाएगा। अग्रिम जमानत के "सर्वग्राही आदेश" से जो बात अभिप्रेत है, वह ऐसा आदेश है जो कि अभिकथित रूप से अवैध किसी भी प्रकार के और हर प्रकार के क्रियाकलाप को वस्तुतः ऐसी किसी भी घटना को जो कि सम्भाव्य या असम्भाव्य हो, और जिसके सम्बन्ध में कोई भी ठोस जानकारी सम्भवतः नहीं मिल सकती, अपनी परिधि में लेना या संरक्षित करने के आवरण के रूप में कार्य करता है।

धारा 438(1) के अधीन विवेकाधिकार का तर्क आधार युक्तियुक्त आधारों पर आधारित आवेदक का यह विश्वास है कि उसे अजमानतीय अपराध के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है। आवेदक से यह प्रत्याशा करनी अवास्तविक है कि वह अपना आवेदन उतनी अति-सावधानी के साथ लिखेगा जितनी कि किसी सिविल मामले में दिए जाने वाले अभिवचन में बरती जाती है, और इस प्रकार की अपेक्षा इस धारा की नहीं है। किन्तु आवेदक द्वारा विनिर्दिष्ट घटनाओं और तथ्यों को इस दृष्टि से प्रकट करना चाहिए जिससे कि न्यायालय उसके विश्वास की युक्तियुक्तता के सम्बन्ध में निर्णय करने में समर्थ हो सके, जिसकी विद्यमानता इस धारा द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग के लिए अनिवार्य शर्त है।

37. इस तथ्य के अलावा कि कानून की भाषा यह अर्थान्वयन करने के लिए विवश करती है, इस बात पर जोर देने में यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त

1980(4) eILR(PAT) SC 103

अन्तर्निहित है कि उन तथ्यों को जिनके आधार पर धारा 438(1) के अधीन निदेश दिए जाने की ईप्सा की जाती है, स्पष्ट और विनिर्दिष्ट होना चाहिए, न कि अस्पष्ट और साधारण। उसी सिद्धान्त का पालन करके ही किसी व्यक्ति की स्वाधीनता के अधिकार के और पुलिस को रिपोर्ट किए गए अपराधों में उसके द्वारा अन्वेषण करने के अधिकार के बीच सम्भावित टकराव से बचा जा सकता है। अग्रिम जमानत के सर्वग्राही आदेश के परिणामस्वरूप अन्वेषण के मामले में पुलिस के अधिकार और कर्त्तव्य, दोनों में ही गम्भीर हस्तक्षेप होना निश्चित है, क्योंकि इस बात का ध्यान न रखते हुए कि आवेदक द्वारा किस प्रकार का अपराध किए जाने की बाबत अभिकथन किया गया है, और कब किया गया है, जमानत का ऐसा आदेश जिसमें अभिकथित रूप से अवैध किसी भी प्रकार के क्रियाकलाप की परिकल्पना की गई है, आवेदक को गिरफ्तार करने से पुलिस को तब भी निवारित करेगा, यदि वह जनता की उपस्थिति में ही कोई अपराध, उदाहरणार्थ हत्या करता है। तब, ऐसा आदेश अव्यवस्था का अनुज्ञापत्र हो सकता है और ऐसे अपराधों के जिनकी बाबत कदाचित् पहले से नहीं बताया जा सकता था, जब कि आदेश किया गया था, शीघ्र अन्वेषण को अवरुद्ध करने का साधन हो सकता है। अतः ऐसे न्यायालय को जो कि अग्रिम जमानत अनुदत्त करता है, ऐसे अपराध या अपराधों को विनिर्दिष्ट करने की सावधानी बरतनी चाहिए जिसके या जिनके सम्बन्ध में ही वह आदेश प्रभावी होगा। उस शक्ति का प्रयोग शून्य में नहीं किया जाना चाहिए।

38. हमारे समक्ष धारा 438(1) के अधीन जमानत के आदेश किए जाने के सम्बन्ध में कतिपय छोटे-छोटे नमूनों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन किया गया था। क्या लोक अभियोजक को सूचना दिए बिना उस धारा के अधीन कोई आदेश किया जा सकता है? ऐसा आदेश किया जा सकता है। किन्तु सूचना लोक-अभियोजक या सरकारी अधिवक्ता को तुरन्त जारी की जानी चाहिए और जमानत सम्बन्धी प्रश्न की पुनः परीक्षा पक्षकारों की सम्बन्धित दलीलों की रोशनी में की जानी चाहिए। अन्तरिम आदेश को भी उस धारा की अपेक्षाओं के अनुरूप ही होना चाहिए और उपयुक्त शर्तें उस प्रक्रम में भी आवेदक पर अधिरोपित की जानी चाहिएं। क्या धारा 438(1) के अधीन किए गए आदेश के प्रवर्तन को निश्चित समय तक सीमित रहना चाहिए?

1980(4) eILR(PAT) SC 103

यह आवश्यक नहीं है। यदि ऐसा करने के लिए कारण मौजूद हैं, तो न्यायालय उस आदेश की परिधि के भीतर आने वाले विषय के सम्बन्ध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद भी संक्षिप्त कालावधि तक आदेश के प्रवर्तन को सीमित कर सकेगा। ऐसे मामलों में आवेदक को इस बात का निदेश दिया जा सकता है कि वह संहिता की धारा 437 या 439 के अधीन यथापूर्वोक्त प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद युक्तियुक्त रूप से संक्षिप्त कालावधि के भीतर जमानत का आदेश अभिप्राप्त कर ले। किन्तु इस बात का अनुसरण अपरिवर्तनीय नियम के रूप में किए जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रसामान्य नियम किसी कालावधि के सम्बन्ध में आदेश के प्रवर्तन को सीमित करना नहीं होना चाहिए।

39. पिछले कुछ वर्षों के दौरान इस न्यायालय ने, विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा पारित आदेश के विरुद्ध की गई अपीलों की बाबत कार्यवाही करते हुए धारा 438(2)(i), (ii) और (iii) में उपवर्णित शर्तें अधिरोपित करके अनेक व्यक्तियों को अग्रिम जमानत अनुदत्त की है। इसके अलावा न्यायालय ने, उन मामलों में से अधिकांश में यह निदेश दिया है कि (क) आवेदक को संक्षिप्त कालावधि के लिए पुलिस के समक्ष अपने आपको उस दशा में अभ्यर्पित कर देना चाहिए, यदि साक्ष्य अधिनियम की धारा 27 के अधीन कुछ पता लगाया जाना है या (ख) यह कि उसकी बाबत यह समझा जाना चाहिए कि उसने उस दशा में स्वयं ही अभ्यर्पित कर दिया है, यदि ऐसा पता लगाया जाना है। कतिपय आपवादिक मामलों में, न्यायालय ने, अपने समक्ष प्रस्तुत: सामग्री को देखते हुए, यह निदेश दिया है कि अग्रिम जमानत का आदेश, उसकी परिधि के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के फाइल किए जाने के बाद एक सप्ताह या उसके आसपास की कालावधि तक ही प्रवर्तन में रहेगा। कुल मिलाकर इन आदेशों ने समाधानकारी रीति से कार्य किया है जिनके परिणामस्वरूप सम्बन्धित व्यक्तियों को कम से कम असुविधा हुई है और पुलिस के अन्वेषण करने के अधिकारों में कम से कम हस्तक्षेप हुआ है। न्यायालय ने व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता के अधिकार और पुलिस के अन्वेषण करने के अधिकार के बीच उन आदेशों के माध्यम से सन्तुलन कायम किया है। जिन अपीलार्थियों को विभिन्न न्यायालयों ने अग्रिम जमानत देने से इनकार किया था, उन्हें यह न्यायालय संहिता की धारा 438(1) के अधीन बहुत पहले ही छोड़ चुका है।

1980(4) eILR(PAT) SC 103

40. हमारे समक्ष प्रस्तुत विभिन्न अपीलों और विशेष इजाजत पिटीशनों का निपटारा इस निर्णय के अनुसार ही किया जाएगा। जैसा कि इस निर्णय में उपदर्शित किया गया है, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ का निर्णय, जो कि अपीलाधीन मुख्य मामले के रूप में माना गया था, सारवान् रूप से अपास्त किया जाता है।

अपीलें और विशेष इजाजत
पिटीशन मंजूर किए गए।

श्री०